Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारिका

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

कहानियों और कथाजगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष: 25; अंक 391; 16 से 31 अक्तूबर, 1985

संपादक
अवधनारायण मुद्गल
उप-संपादक
रमेश बतरा
सुरेश उनियाल
बलराम
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन
सज्जा
सुमीता

कथा-पीढ़ी विशेषांक : एक

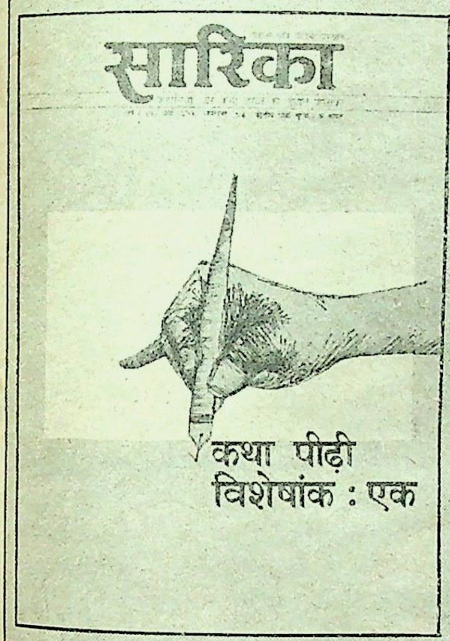

आवरण : आनंद

कहानियां

10. कंठा:
भैरव प्रसाद गुप्त
14. प्रिये जी :
उपेंद्रनाथ अश्क
20. लिखूं...! :
शिवानी
9. असत्य :
द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'
34. अतिथि :
अमृतराय
43. एक्कहवा पांडे :
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
49. प्रतिवाद :
छेदीलाल गुप्त
54. कोई लेखक लाओ :
हर्षनाथ
8. अधमरा कलकत्ता :
प्रभाकर माचवे

आत्मावलोकन

58 आबार ऐशो :
नरेश मेहता

साक्षात्कार

27. दूसरों को जिंदा रखने का प्रयत्न भी चरित्र है : द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' से कमल गुप्त और पुष्पा अवस्थी की बातचीत

पीढ़ियां : आमने-सामने

38. एक बात थी मकान के बारे में, दूसरी बात है—पत्नियां ! : अज्ञेय, नरेंद्र शर्मा, गोविंद मिश्र एवं चंद्रकांत बांदीवडेकर के बीच विचार-विमर्श—प्रस्तुति : अनिल शर्मा

दस्तावेज

51. छोटी कहानियां :
आचार्य रामचंद्र शुक्ल

परिचर्चा

65. प्रेमचंद की विरासत और कहानी का सिलसिला

स्थायी स्तंभ

6. आपकी बात
8. बहस
72. पखवारे की पुस्तकें
74. हलचल

संपादकीय पता : सारिका, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपकी बात

आज जो हो रहा है

मैं तकरीबन तीन वर्ष से **सारिका** पढ़ रहा हूं. क्यों पढ़ रहा हूं, इसकी वजह सिर्फ यह है कि उर्दू अदब का एक मामूली-सा शिक्षक हूं. लेकिन हिंदी अदब में भी क्या लिखा जा रहा है और कैसा लिखा जा रहा है, इस पर भी नजर रखना मैं जरूरी समझता हूं.

इस बार **अमृतलाल नागर विशेषांक** देखकर दिल नहीं माना और लिखने बैठ गया. इस पत्रिका की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसकी जुबान बहुत आसान है. जहां तक कहानियों का सवाल है, उसका कोई जवाब नहीं. आज जो हो रहा है, उस पर बराबर कहानियां सिर्फ **सारिका** में ही मिलती हैं.

0 तनवीर सैयद, इलाहाबाद

नयी परंपरा की शुरुआत

अमृतलाल नागर विशेषांक पढ़कर मन प्रसन्न हो गया. **सारिका** के विशिष्ट कथाकारों पर आधारित विशेषांकों की समृद्ध परंपरा में एक और शानदार कड़ी जुड़ गयी. आपने इस विशेषांक में इतनी रुचिकर वैविध्यपूर्ण, पुष्ट और प्रचुर सामग्री संजोयी है कि यह विशेषांक सर्वांगपूर्ण, सर्वसमुन्नत, सर्वसंग्रहणीय बन गया है—हिंदी के यशस्वी उपन्यासकार **अमृतलाल नागर** के बहुरंगी कृतित्व और व्यक्तित्व को पूर्णतः उद्भाषित करता हुआ—उनके जीवन और चरित्र के हर पक्ष-पहलू को उजागर करता हुआ. इस विशेषांक को आदरणीय स्वर्गीया बा को समर्पित कर आपने अत्यंत शिष्ट और शोभनीय भाव का परिचय दिया है. इतनी अच्छी, प्रचुर और समृद्ध सामग्री सुलभ करने के लिए आप निस्संदेह पाठकों की हार्दिक बधाई के पात्र हैं.

हमें इस बात की भी प्रसन्नता है कि आपने इस विशेषांक के माध्यम से **सारिका** के जीवन में एक क्रांतिकारी कदम उठाया है—पुरानी परंपरा को तोड़ा है और एक नयी परंपरा की शुरुआत की है.

0 रवींद्रनाथ ओझा, बेतिया (बिहार)

स्त्री-पुरुष दोनों के संघर्ष

मुझे यह लिखते हुए गर्व हो रहा है कि आपने जीवित व वर्तमान साहित्यकारों की सृजनात्मक नीति को आधार बनाया और अमृतलाल नागर विशेषांक निकाला. इस तरह के साक्षात्कारों से युवा पीढ़ी के उभरते रचनाकारों को नयी प्रेरणा मिलेगी. यह मेरा विश्वास है.

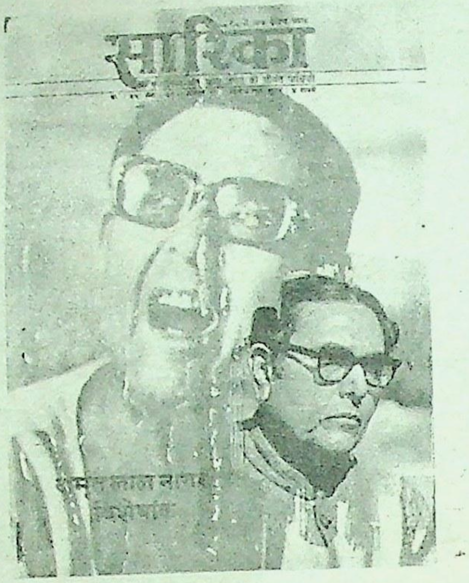

नागरजी के शब्द रेखा-चित्रों, भाषा-शैली सौष्ठव, प्रतीकात्मकता, काव्यात्मक-गद्य तथा मुहावरों के विषयों पर भी लिखा जाना चाहिए था. सबसे प्रमुख बात उनकी, मैंने उनसे मिलकर बातचीत करके महसूस की है कि वह खोजी पत्रकारिता की दृष्टि और पुष्टि लेकर ही उपन्यासों की रचना करते हैं. गहन अध्ययन व परिस्थितियों को एक साथ लेकर चलते हैं. मुझे उनके उपन्यासों, कहानियों, व्यंग्यों में एक मानव अधिकार की लड़ाई, समाज, परिवार, देश में नयी नीतियों को स्थापित करने की लड़ाई मिली है. नागरजी को मैं प्रेमचंद जैसे उपन्यासकारों के समान पाती हूं, जिन्होंने स्त्री-पुरुष दोनों के संघर्षों एवं मानसिकता को एक ही मंच पर उपस्थित करने का साहस दिखलाया है.

0 श्रीमती अर्पणा चतुर्वेदी 'प्रीता', औरंगाबाद

निर्मल जल सागर का

आपका विशेषांक मिला 'नागर' का,
मानो, अंत में सैर किया हूं सागर का,
उत्कंठा बूझी, मानो निर्मल जल था सागर का,
नजरिया बदला और एहसास हुआ उजागर का.

0 रणजीत सिन्हा, पटना

कपूर, कुंकुम, फिटकरी, नौसादर

अमृतलाल नागर विशेषांक एक अभिनव कथा सरित्सागर था. 'चौक युनिवर्सिटी के वी. सी.' के जन्म दिवस के इस उपहार में कहानियों का कपूर था, उपन्यासों एवं संस्मरणों का कुंकुम चंदन था, साक्षात्कार और प्रियजनों की दृष्टि से सुस्पष्ट दिखनेवाला दर्पण था, वही व्यंग्य की फिटकिरी तथा उनकी उन्मुक्त हंसी का नौसादर था.

0 सच्चिदानंद तिवारी 'शलभ', बाराबंकी

साहित्यकार का चित्र

अमृतलाल नागर विशेषांक ने बहुत ही आकर्षित किया. यह जानकर अधिक प्रसन्नता हुई कि हिंदी साहित्य के जीवित मूर्धन्य साहित्यकारों के साहित्य और जीवन को विशेषांक के रूप में प्रस्तुत किया जायेगा.

आवरण छाया के बारे में मेरा सुझाव है कि तस्वीर ऐसे प्रस्तुत की जाये कि पूरे पृष्ठ पर एक ही हो और बहुत ही कलापूर्ण, जिसे कमरे में सजाकर लोग रख सकें. इस अंक में छपी दोनों तस्वीरें अच्छी हैं, लेकिन दोनों एक दूसरे को अपूर्ण ही रखती हैं.

कभी-कभी तो ये तस्वीर बड़े काम की चीज होती हैं. निरालाजी के गांव में उनकी पहली जयंती के अवसर पर निरालाजी का चित्र न उपलब्ध होने पर 'धर्मयुग' के एक अंक ने कितना कमाल दिखाया. नागरजी के ही शब्दों में—"मैंने पट्टी पर 'धर्मयुग' के पन्ने उलटकर वह चित्र बांधा."

अतः इसकी अहमियत को देखते हुए भविष्य में प्रत्येक अंक का मध्य पृष्ठ एक साहित्यकार के चित्र से सुशोभित हो, इस पर विचार किया जाये.

0 अभय शंकर, बेहती (पूर्णिया)

नागर जी : साहित्य का सागर

अमृतलाल नागर विशेषांक पढ़ा. नागरजी ने लंबे समय तक बिना अंतराल के साहित्य की यात्रा तय की है और अपने अनुभवों, संस्मरणों और उपन्यासों को नया आयाम प्रदान किया है. हिंदी साहित्य की ऐसी विभूतियों को जिन्हें अब एक अवशेष ही साहित्य के क्षेत्र में माना जाता है, उनके बारे में पाठकों को पूर्ण जानकारी देने का बीड़ा **सारिका** ने उठाकर साहित्य की उस आत्मा को सम्मान दिया है, जो सिसकियां भर रही थी.

नागरजी ने **'भूख', 'अमृत और विष', 'सुहाग के नूपुर'** एवं **'नाच्यौ बहुत गोपाल'** उपन्यास लिखकर मानवीय संबंधों में बनते-बिगड़ते मूल्यों तथा जातिवाद के नये दृष्टिकोण का आज के जीवन में जो प्रभाव महसूस किया है, उसकी वास्तविकता को करीब से जानकर उसे लेखनी के माध्यम से समाज तक पहुंचाने का प्रयास किया है. चाहे व्यंग्य रचनाएं हों या नाटक या कहानियां, हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना अपने-आप में प्रभावशाली है. उनके प्रमुख पात्रों के संवादों में जो विविधता है और भाषाओं का जो भंडार उनकी कृतियों में देखने को मिलता है वो दार्शनिकता और तर्कों से परे भी है और सहज जीवन जीने एक साधन भी. उनकी साहित्यिक कृतियों को मैंने जितना पढ़ा, उससे यही लगता है कि नागरजी के अंदर हृदय ही हृदय है. भावना प्रधान पात्रों के द्वारा रचित कथाओं का संग्रह उत्कृष्ट तो होता है, लेकिन वह वर्तमान स्थितियों में जीने का एक साध्य भी माना जा सकता है.

0 सुधीर तिवारी, इलाहाबाद

भविष्य की योजना

आदरणीया बा की स्मृति को एक हार्दिक श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित अमृतलाल नागर विशेषांक निःसंदेह सारिका के विशेषांकों की समृद्ध परंपरा की एक और उत्कृष्ट कृति है. यद्यपि किसी जीवित वयोवृद्ध तथा संघर्षशील रचनाकार पर यह सारिका का पहला विशेषांक है तथापि आपने इन 'व्यस्त' और 'मस्त' रचनाकार के व्यक्तित्व व कृतित्व को कुल 76 पृष्ठों के इस विशेषांक में सागर की तरह भर देने का सफल प्रयास किया है. साधुवाद! इस नयी परंपरा को बनाये रखने की भविष्य की योजना की बात पढ़कर मन प्रसन्न हुआ है.

0 डॉ. सुशीलकुमार गुप्त, खगड़िया

बने रहें मार्तंड

लेखन प्रतिभा के धनी, करते सृजन रसाल,
छलकाएं अमृत सदा, नागर अमृतलाल.
नागर अमृतलाल, शान लखनऊ नगर की,
पद्म विभूषित, सुरभित संपति भारत भर की
कह 'राजेश' चिरायु हों, फैले सुयश प्रचंड,
युगों-युगों साहित्य के, बने रहें मार्तंड.

0 राजेश अरा 'शलभ', लखनऊ

संपूर्ण नारी की प्रतीक

अमृतलाल नागर विशेषांक की सभी सामग्री उच्च कोटि की रही. भारतीजी के संस्मरण का अंत बड़ी ही उदासी लिये हुए रहा. लगा, अंतर्मन में एक तूफान उठता जा रहा है, जो धीरे-धीरे अपने-आप शांत भी पड़ता जा रहा है. ठाकुर प्रसाद की नजर भी बा के सूनेपन का एहसास करा जाती है, लगता है सारा माहौल उदास हो गया है. एक ऐसी उदासी, जो उन्हें हमेशा कचोटती रहेगी. तब तक, जब तक वे जीवित रहेंगे. बा का व्यक्तित्व सचमुच ही आकर्षक लगा. उनके प्रियजनों की वेदनाभिव्यक्ति से यही एहसास हुआ कि वे सचमुच में एक संपूर्ण नारी की प्रतीक रही होंगी.

विजय बोस की नजर कलाकार नागरजी को उभारती है. रंगमंच से उनका जुड़ाव और कलाकारों से आत्मीय व्यवहार, उनकी सृजनात्मकता के साथ-साथ रंगमंच के उद्भावन की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है, जो सहज ही ग्राह्य है.

0 देवेंद्रकुमार चौबे 'तरुणेश', बोकारो

वह विज्ञापन वहां क्यों था?

रजत जयंती वर्ष में आपने जो विशेषांकों की श्रृंखला शुरू की है, उसके लिए आपका एहसानमंद हूं. प्रत्येक अंक में सबसे पहले मैं **आपकी बात** पढ़ता हूं, जो कि भीतरी पृष्ठों पर छपी सामग्री का आईना होती है, परंतु अगस्त द्वितीय पक्ष में **अपनी बात** को आप विज्ञापन द्वारा हानि पहुंचाने का दुःसाहस कर गये हैं, जो कि मेरी नजर में एक अक्षम्य अपराध है. इसे क्या यूं समझूं कि आपके पास आदरणीय बाबूजी (श्री अमृतलाल नागर) के बारे में लिखने की सामग्री का अभाव था या व्यावसायिकतावश **अपनी बात** आधे पृष्ठ में ही पूरी कर गये हैं. यदि विज्ञापन किसी और पृष्ठ पर दे दिया जाता तो इतनी तकलीफ न होती.

0 रविकुमार चतुर्वेदी, जोधपुर

नागरजी ने बंबई में क्या किया?

अमृतलाल नागर विशेषांक निश्चित रूप से अनूठा, अद्भुत, अविस्मरणीय !!! किंतु, रहा अधूरा ! अनेक महत्वपूर्ण प्रसंग छूट गये हैं. भारतीय सिने-संसार में 'डबिंग सिस्टम' के जनक नागरजी ही हैं. उन्होंने सन् 1944 में पहली रूसी फिल्म—**नसिरउद्दीन इन बुखारा** हिंदी में डब की थी. हिंदी लेखकों-कवियों के अलावा बंबई में उनके तीन अभिन्न मित्र थे—निर्देशक महेश कौल, अभिनेता मोतीलाल और किशोर साहू. किशोर साहू से झगड़ा होने पर उनकी मां ही दोनों में फैसला कराती थीं. सन् 1944-45 में नागरजी के लिए हरी-हरी पत्तियोंवाली खुशबूदार भांग-सप्लाई का जिम्मा मेरा था. उन दिनों मैं ब्रिटिश गुप्तचर संस्था 'फोर्स वन-थ्री सिक्स' में कार्यरत था. देश का तूफानी दौरा किया करता था. अतः कहीं भी मेरी तलाशी लिये जाने का प्रश्न ही नहीं.

उन दिनों नागरजी की शक्ल-सूरत, डील-डौल, नेताजी सुभाषचंद्र बोस से बहुत कुछ मिलते-जुलते थे. इसी आधार पर बंबई सी. आई. डी; स्पेशल ब्रांच (राजनीतिक शाखा) द्वारा उनकी महीनों तक निगरानी होती रही. (अंत में इस बात का आभास नागरजी को शायद हो गया था.)

जब कभी भाभीजी (स्व. प्रतिभा नागर) नागरजी का लंच लेकर श्री साउंड स्टूडियोज पहुंचती थीं तो शांता आप्टे, वनमाला, सुरैया, स्वर्णलता, पद्मा बनर्जी जैसी उस जमाने की सुंदरतम हीरोइनें एकटक निहारती रहती थीं सुंदरता की उस देवी को. वे एक कुशल वीणावादिनी भी थीं. मेरी रुग्ण पत्नी का इलाज डॉ. (श्रीमती) गुलाब बाई शेटे से कराना उन्हीं के जिम्मे था. एक वर्ष तो लग ही गया उन्हें मेरी पत्नी की तीमारदारी करते.

नागरजी ने कइयों को फिल्मों में चिपकाया भी. किसी को कैमरामैन, साउंड-रिकार्डिस्ट, तो किसी को लेखक बनाया. उन्हीं में एक था मेरा अनुज (स्व.) ब्रजेंद्र गौड़.

मैंने देखा है नागरजी का स्वाभिमान. पैसे के आगे कभी झुके नहीं. अच्छे-अच्छे निर्माताओं को घास नहीं डाली. श्री डागा तो उनके नाम श्री साउंड स्टूडियोज ही लिख रहे थे. उन्होंने वह भी मना कर दिया.

युद्ध-समाप्ति पर जब मेरा स्थानांतरण बंबई से लखनऊ हुआ तो मकान के लिए भाई साहब (नागरजी) और भाभीजी (श्रीमती नागर) के सामने अपना दुखड़ा रोया. वे हंसकर बोले, "इसमें चिंता की कौन-सी बात है, लखनऊ में मेरे मकान की तीसरी मंजिल जो खाली पड़ी है, वहीं जाकर रहो ठाठ से." लखनऊ पहुंचने पर मैं इसी मकान में वर्षों सपरिवार रहा 'माते' (नागरजी की मां) के साथ. यही वह मकान था चौक में खुनखुनजी की कोठी से मिला, जिसकी सीढ़ियां चढ़कर **डॉ. धर्मवीर भारती** पहली बार नागरजी के दर्शनार्थ पधारे थे.

0 धर्मेंद्र गौड़, गोरावचर-273001

नागरजी ला-पता

अमृतलाल नागर विशेषांक बहुत ही अच्छा रहा. निःसंदेह, हिंदी साहित्य के प्रति उनकी सेवाएं प्रशंसनीय एवं सम्मान के योग्य हैं. **'आप किस उम्मीद पर जिंदा हैं?'** शीर्षक से प्रकाशित नागरजी का पत्र एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है. इसमें देश के इतिहास एवं हिंदी की निरंतर प्रगति का प्रस्तुत चिट्ठा अन्यतम एवं उत्साहवर्धक है. **बाला दुबे** के **'लापता होना नागरजी का'** संस्मरण इस बात का संकेत है कि नागरजी एक प्रसन्नचित्त एवं मौजी साहित्यिक हैं.

0 शकुनचंद गुप्त विशारद, लालगंज

नागरजी क्यों नहीं चुके?

अमृतलाल नागर विशेषांक निकालकर आप लोगों ने एक ऐसे मसिजीवी का सम्मान किया है, जिसे हम पुरानी-नयी पीढ़ी के बीच एक सही सेतु के रूप में देखते हैं. नागरजी लेखकों की उस पीढ़ी की याद दिलाते हैं, जब लेखन मात्र कर्म नहीं था. वह एक धर्म था और किसी अंतःप्रेरणा के सहारे सर्जन होता था. एक प्रकार से यह खतरों-भरा रास्ता था. अपने को समाज की प्रवहमान धारा से जोड़कर जीवन से सीधा संपर्क कर उसे अभिव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देना एक संकल्प जैसा था. लेखक का सेल्समैन होना सबसे घातक होता है, क्योंकि तब रचना का व्यावसायीकरण होता है और वह अपने सांस्कृतिक दायित्व में दब जाती है. नागरजी ने आधुनिकता के उस कृत्रिम दौर का निषेध किया, जिसमें कई बड़ी प्रतिमाएं बिला गयीं. बिना कोई लेबल लगाये नागरजी हमारे सबसे सजग समाज शास्त्री हैं. उन्होंने भारत के टूटते सामंतवाद को देखा और उस पर बेबाक टिप्पणी की. उनके पास वह जीवंत मुहावरा है, जो उनकी रचनाओं को विश्वसनीय और प्रामाणिक बनाता है. वे तथाकथित बौद्धिकता आदि का मुगालता नहीं पालते और जिंदगी से सीधी मुलाकात करते हैं. उसकी तहों में जाते हैं और संवेदन के गहरे स्तर पर उसे व्यक्त करते हैं. कई बार भावुक तक होते हैं, पर लिजलिजी भावुकता के तहत नहीं, बल्कि एक ईमानदार इंसान की तरह.

नागरजी अहंकाररहित लेखन की एक उम्दा मिसाल हैं, जहां जीवन को खुली किताब की तरह देखा-समझा जाता है और पाठक के प्रति भी एक अदब दिखाया जाता है. नागरजी की रचनाओं से गुजरने पर लगता है कि उनके पास कहने को ढेर सारी-बातें हैं; और इसीलिए इस आयु में भी वे सर्जनकर्ता हैं और चुके नहीं हैं.

0 डा. प्रेमशंकर, सागर

दो-चार रचनाएं और. . .

अमृतलाल नागर विशेषांक हाथ में है. इस विशेषांक में उनके बारे में, टुकड़ों-टुकड़ों में लिखा गया है. एक ही विषय को दूसरे लेखकों और आलोचकों द्वारा दोहराया गया है. पत्रिका के पन्ने तो आपने उनके बारे में आलोचकों की टिप्पणी छापते-छापते बर्बाद कर दिये. कोई भी लेखक अपनी लेखनी के बल पर जीवित रहता है. उसके (लेखक की) अपने मन की विचारधारा और उसके रहने-सहने, खाने-पीने के ढंग का प्रभाव उसकी रचनाओं में झलकता रहता है. आपकी पत्रिका एक प्रभावशाली पत्रिका है, जो कि साहित्यिक रचनाओं को लेकर जीती है. इसको पढ़नेवाले भी साहित्य की उपासना करनेवाले मौलिक जीवी होते हैं, जो कि अपने अनुमानों और विचारधारा से लेखन और लेखक के मनोभाव को पहचान लेते हैं. अगर नागरजी पर कुछ कम लिखा कर उनकी दो-चार रचनाएं और दे देते तो ज्यादा ठीक रहता.

0 हरिप्रसाद गुप्ता, दुर्गापुर

पाठकों के अनुरोध पर

नागरजी का वर्तमान एवं स्थायी पता है—

● **अमृतलाल नागर**
चौक, लखनऊ-226001

बहस

इस बहस ने बहुत-सी बातें स्पष्ट कर दी हैं

▣ कृष्णकांत अरोड़ा

राकेश वत्स और कृष्णा सोबती के बीच छिड़े भाषाई संग्राम पर चलाई गयी बहस पर छपी चिट्ठियों को देखकर मैंने 'हिंदी का नस्ल सुधार' और 'सांप का पिटारा' को कई बार पढ़ा और हर बार पाया कि सोबती ने तैश में आकर जो आरोप राकेश वत्स पर लगाये हैं, वे केवल बेबुनियाद ही नहीं हैं, बल्कि मनगढ़ंत भी हैं. वत्स के लेख से ऐसा बिल्कुल नहीं लगता कि उन्होंने संस्कृत के शब्दों के प्रयोग की पैरवी की है और उर्दू के शब्दों के प्रयोग का विरोध किया है. यह जरूर लगता है कि उन्होंने हिंदी पर मंडराते इस खतरे की तरफ इशारा जरूर किया है कि कुछ लोग राजनैतिक उद्देश्यों और निहित स्वार्थों से प्रेरित होकर हिंदी का जो नस्ल सुधार करने का बीड़ा उठाये हुए हैं, वे भाषा के स्वाभाविक विकास में तो रोड़े अटका ही रहे हैं, साथ ही भाषा के सांस्कृतिक आधार को भी नष्ट करने पर तुले हैं. जबकि ये आधार किसी भी भाषा की सबसे बड़ी शक्ति होते हैं. कृष्णा सोबती ने इतनी-सी बात को सांप्रदायिक रंग देने के लिए शब्दों की जो छुरेबाजी की है उसके औचित्य का कोई आधार मुझे खोजने पर भी नहीं मिला. जो आधार एक लोअर कोर्ट के वकील की तरह तैयार किया गया है, उस पर जरा-सा ध्यान देने पर ही उसके पीछे छिपे चालाक झूठ का तुरंत पर्दाफाश हो जाता है. उदाहरण के लिए राकेश वत्स ने अपने लेख के अंत में अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों को लेकर शक्तिसंपन्न बनी आज की हिंदी के महत्व की पैरवी करते हुए लिखा है—

'फिर शायद हिंदी हिंदोस्तानियों के ही हाथों मजाक और अपमान की भागी नहीं बनेगी.'

कृष्णा सोबती ने इस वाक्य से 'नहीं' शब्द को उड़ाकर इसका अर्थ ही उलटा कर लिया और बड़ी चालाकी से अपने हित में इस्तेमाल कर लिया. इससे सिद्ध किया गया कि राकेश वत्स उर्दू के शब्दों के प्रयोग का विरोधी है, जब कि सचाई बिल्कुल इसके विपरीत लग रही है. इसका प्रमाण उनके इन स्तंभलेखों की भाषा तो है ही, आये दिन पत्र-पत्रिकाओं में छपनेवाली उनकी रचनाओं की भाषा भी है, जिसमें उन्होंने उर्दू के शब्दों का प्रयोग बड़ी ही बेबाकी और इज्जत के साथ किया है. अलबत्ता, यह जरूर लगता है कि वे हिंदी पर आश्रमी (संस्कृत के गूढ़ शब्दों) और नवाबी (उर्दू के गूढ़ शब्दों) को थोपने के पक्षधर नहीं हैं, जैसा कि कृष्णा सोबती की भाषा में साफ दिखायी देता है. समझ में नहीं आया कि कुछ पत्र-लेखकों ने बिना सोचे-समझे कृष्णा सोबती की हां में हां कैसे मिला दी— खासतौर पर छीछालेदार में मजा लेनेवाले पत्र-लेखकों ने. हां, राकेश वत्स को भाषा की बात करते-करते कृष्णा सोबती के बारे में यह टिप्पणी नहीं करनी चाहिए थी कि 'वे सोचती पंजाबी में हैं, बोलती अंग्रेजी में, लिखती उर्दू में हैं और पढ़ी जाती हिंदी में,' क्योंकि इसमें भाषा के सवाल के साथ-साथ व्यक्तिगत उघाड़ की गंध-सी आ गयी लगती है. शायद इसी से पीड़ित होकर कृष्णा सोबती ने सारी बहस को ही व्यक्तिगत बना डाला, जिससे मूल मुद्दा तो ताक पर चला गया और राकेश वत्स के आसपास के कुछ 'बेलों को अपनी पूंछ छटकारने का मौका मिल गया.

बहरहाल, बहस का जो नतीजा हाथ लगा है, वह बहुत बढ़िया है. इससे सिद्ध हुआ है कि हिंदी को सभी भारतीय भाषाओं के प्रचलित शब्दों को स्वाभाविक रूप से ग्रहण करके अपने-आपको समृद्ध करना चाहिए, लेकिन आश्रमी और नवाबी शब्दों के रूढ़ संस्कारों से तथा इसके साथ ही अंग्रेजी की गुलामी से बचकर. ऐसी समृद्ध भाषा चाहे 'जंगल के आसपास' की हो, चाहे 'जिंदगीनामा' की, उसे आदर और स्वीकार मिलना ही चाहिए. मेरे विचार में राकेश वत्स के लेख का भी यही सारांश था, लेकिन वह स्पष्ट नहीं था, जो बहस से बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट हो गया है. □

विशेष ● इस बहस के समापन चरण में मिली यह प्रतिक्रिया हमें इस बहस का सारांश प्रतीत हुई है. इसलिए इस प्रतिक्रिया के प्रकाशन के साथ बहस अब समाप्त की जा रही है.—सं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात

पांच पीढ़ियां और पांच विशेषांक...

पांच की संख्या का यह विभाजन न तो हमने उम्र के हिसाब से किया है और न ही इसे दशकों के खानों में बांटा है. हां, इसे एक क्रम देने का प्रयास अवश्य किया गया है. इसका अर्थ होता है उस पीढ़ी से जो स्वतंत्रता प्राप्त होने से पूर्व देश के अस्तित्व को गुलामी की जकड़न से मुक्त करना चाहती थी. अपने लेखन के संदर्भ में उनके पास आदर्श भी थे और संघर्षशील मूल्य भी, जिनके लिए वे सदैव संघर्षरत रहे. स्वाधीनता के बाद लोकतंत्र एक नयी सुगंध लेकर आया. अन्य देशवासियों की भांति लेखकों ने भी 'अपना देश और अपनी सरकार' के सपने संजोये, मान्यताएं बनायीं और अपनी रचनाधर्मिता में नये जीवन को रेखांकित किया. पर वह सब कुछ नहीं हुआ, जिसकी कि आशा थी. अतः परिवेश में निराशा-सी पनप गयी. आजादी से जुड़ी आशाओं की मृगतृष्णा सहसा मोहभंग की स्थिति में बदल गयी. हमारी तीसरी पीढ़ी कई प्रकार की कुंठाओं और संत्रासों का शिकार हो गयी और स्वाभाविक था कि तत्कालीन लेखन में ये सब अभिव्यक्त भी हुआ. बीच के इस दौर को एक प्रकार से 'कहानी-आंदोलनों' का दौर भी कहा जा सकता है. इस दौर में देश को युद्ध और आर्थिक संकट का सामना भी करना पड़ा. महंगाई, बेरोजगारी के बीच कुछ करने-मरने की ललक ने चौथी पीढ़ी को मोहभंग की स्थिति से उबारकर जीवन के यथार्थ से परिचित कराया...और कहानी ने एक नया मोड़ हासिल किया. लेखन जो व्यक्तिवाद का शिकार हो रहा था फिर से समाज और समष्टि की ओर उन्मुख हुआ. आंखों देखे सच और जीवन के सच के सवाल मुखर हुए. परंतु परिस्थितियां सदा एक जैसी नहीं रहतीं. राजनीतिक आपाधापी, किसान-मजदूर आंदोलन, सशस्त्र क्रांति, आपात-स्थिति आदि इन निरंतर घटनाक्रमों का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा. चौथी पीढ़ी ने इसे रेखांकित किया और अब पांचवीं पीढ़ी वर्तमान परिवेश में अतीत को पीठ पर न ढोकर उसे सामने रखकर इससे सबक लेती हुई भविष्य की तरफ निहार रही है और यथार्थ को नव्यतम आयाम देने के भरपूर प्रयास कर रही है.

सारिका : रजत जयंती वर्ष के प्रारंभ में हमने जो यज्ञ प्रारंभ किया था उसकी पूर्णाहुति के रूप में समर्पित किये जा रहे इन पांच विशेषांकों में से इस पहले विशेषांक को हमने उन कथा-मनीषियों की रचनाओं से सजाया-संवारा है, जो स्वाधीनता से पूर्व न केवल लिखना प्रारंभ कर चुके थे अपितु उन्होंने हिंदी-कथा साहित्य को बेहतर और सकारात्मक दिशा भी प्रदान की. उन आदरणीय कथाकारों में से जो आज हमारे बीच नहीं रहे यह विशेषांक उन्हीं की स्मृति में सादर समर्पित है.

जिन रचनाकारों का सानिध्य आज भी हिंदी कथा-साहित्य को प्राप्त है, उनकी ताजा और विशेष रूप से सारिका के लिए लिखी गयी ये कहानियां, हमें पूरी आशा है कि हमारे पाठकों को भरपूर विचार-विमर्श का अवसर प्रदान करेंगी. हमारी कोशिश रही है कि इस विशेषांक में हर सिनफ के कथाकार शामिल हों.

पांच विशेषांकों के माध्यम से हिंदी कथा-साहित्य की पांचों पीढ़ियों को हमारा सलाम पहुंचे, क्योंकि ये सब मिलकर अपने समग्र रूप में अपनी-अपनी विभिन्न विशेषताएं जाहिर करने के साथ-साथ उन बिंदुओं की तरफ भी संकेत करेंगे जो तब से अब तक हर कथा-पीढ़ी में समान रूप से प्रवाहमान हैं, क्योंकि एक के बाद दूसरी पीढ़ी कोई खला में से जन्म नहीं लेती, उसके पास एक विरासत होती है और विरासत का यह सिलसिला अटूट होता है.

कथा-पीढ़ियों में विरासत का अटूट-सिलसिला !

—संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैदी

भैरवप्रसाद गुप्त

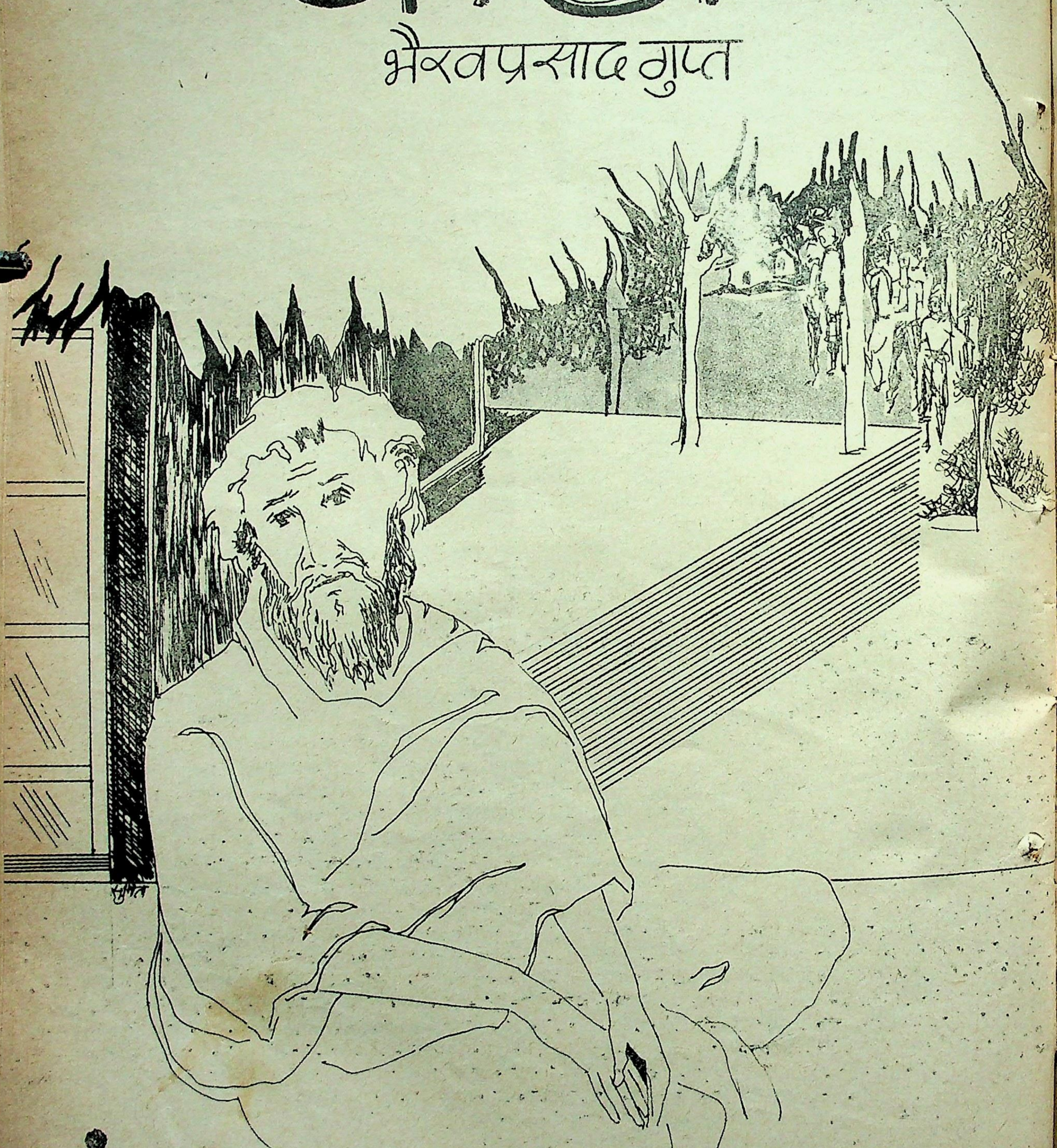

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच क्या है और क्या झूठ है? सच की पहचान क्या है और झूठ की शिनाख्त क्या है? झूठे को बचाने के लिए बोला गया सच, झूठ क्यों होता है और सच्चे को बचाने के लिए बोला गया झूठ अपने-आप में सच क्यों कहलाता है—सवाल दर सवाल करती प्रख्यात रचनाकार की कहानी कि नेम, धर्म, निष्ठा, व्रत, भक्ति आदि सामाजिक हित के संरक्षक होते हैं, सामाजिक अहित के नहीं. मगर कैसे?.... बता रहे हैं इस कहानी के केंद्रीय पात्र—गत्ती भगत जिन्हें अपना तप और यश एक कर्मठ व्यक्ति की क्षमताओं के समक्ष गौण प्रतीत हुए...

उस दिन जिधर सुनो, गांव में छोटे-बड़े सभी के मुंह से अफसोस और ताज्जुब के साथ एक ही बात सुनायी दे रही थी, "गत्ती भगत की कंठी टूट गयी."

कंठी पहनने और तोड़ने, दोनों की शोहरत गांवों में एक ही तरह फैलती है. हां, पहनने की बात सुनकर जहां लोगों को खुशी होती है, वहां तोड़ने की बात सुनकर अफसोस. लेकिन ताज्जुब का भाव दोनों में एक-सा ही रहता है. कोई लुच्चा-लफंगा, बदमाश-शोहदा या मांस-मछली खाने और दारू पीनेवाला अचानक एक दिन गले में तुलसी की कंठी पहनकर भलमानस और भगत बन जाये तो किसे खुशी और ताज्जुब न हो? और वही भलमानस और भगत दो-चार महीने या साल, भगत की जिंदगी बिताकर, अपनी सच्चाई, भलमनसाहत, पवित्रता और पूजा-पाठ की धाक लोगों के मन में जमाकर, एक दिन अचानक कंठी तोड़कर अपनी पुरानी जिंदगी के तौर-तरीकों को वापस लौट जाये तो किसे अफसोस और ताज्जुब न हो?

और गत्ती भगत के मामले में अफसोस और ताज्जुब का और भी बड़ा कारण था. गत्ती कभी भी चोर या लफंगा न रहा था और न कभी उसने दारू को ही मुंह लगाया था. उसकी जिंदगी सभी साधारण किसानों की तरह थी. हां, वह मांस-मछली जरूर खाता था, लेकिन यह तो लोगों के देखने में कोई वैसा अपराध या पाप न था. कुछ ब्राह्मणों और आर्य समाजियों को छोड़कर गांवों में कौन मांस-मछली नहीं खाता? फिर उसने कंठी भी अपने मन से, अपने बुरे आचरणों, असामाजिक कार्यों को छोड़ने की घोषणा करके नहीं पहनी थी. उसकी कंठी की तो एक अलग ही दिलचस्प कहानी थी.

कहा जाता है कि एक रात सोता पड़ने पर अचानक एक साधू ने गत्ती का दरवाजा खटखटाया. गत्ती ने दरवाजा खोलकर, सामने साधू को देखकर नमन किया.

साधू ने कहा, "बच्चा, ठाकुरजी आज रात तेरे दरवाजे पर ही काटना चाहते हैं. देगा आसरा?"

गत्ती ने हाथ माथे से लगाया फिर झुकाकर कहा, "मेरा बड़ा भाग, बाबा! खुशी से मृगछाला डालें." और उसने दालान के कोने को अंगोछे से झाड़-पोंछ दिया.

साधू ने मृगछाला डाल, चिमटा गाड़ दिया. फिर पांव पसार-कर लेटने को हुआ तो गत्ती बोला, "बाबा, परसाद पा चुके हैं?"

साधू मुस्कराया. फिर बोला "बड़ी दूर से ठाकुरजी आ रहे हैं... कहीं टिकने का इरादा नहीं था. इतनी रात गये ठाकुरजी तुझे क्या कष्ट दें?"

"इसमें कष्ट की क्या बात है बाबा? जो साग-सातू..." बात मुंह में ही लिये गत्ती अंदर जाने लगा तो साधू बोला "ठाकुरजी कुछ बनायेंगे नहीं. बहुत थक गये हैं. चना-चबेना कुछ हो..."

गत्ती ने ठिठककर, चिंतित होकर कुछ सोचा. फिर अंदर जाकर मेहरी से पूछा तो मालूम हुआ कि आज ही का भुना मक्का मन्नू के लिए रखा है. देर हो जाने से वह पीस न सकी थी.

एक साफ डाली में भुना मक्का और एक पिड़िया गुड़ और चमचमाते पीतल के लोटे में जल लाकर गत्ती ने साधू के सामने रख दिया.

साधू खा-पीकर तृप्त हो गया. सोंधा-सोंधा मक्का उसे बहुत भाया. उसकी सुगंध तो अब भी दालान में मंडरा रही थी.

आराम से लेटकर, साधू ने हाथों की उंगलियां उलझाये सिर झुकाये खड़े गत्ती की ओर देखकर कहा, "बच्चा, ठाकुरजी की आत्मा तृप्त हो गयी. ठाकुरजी तुझसे बहुत प्रसन्न हुए. तू ठाकुरजी से कुछ मांग ले."

संकोच में गत्ती के होंठ जरा मुस्कराये, बोल न फूटा.

साधू ही बोला "अच्छा देख, ठाकुरजी तुझे एक दवा बता देते हैं. इससे तुझे बड़ा यश मिलेगा. तेरा नाम दूर-दूर तक फैल जायेगा."

गत्ती मुंह बाये बैठ गया. साधू बोलता गया "उकवत (यह चमड़े का रोग अ... पर पांवों में होता है. पानी देनेवाली बहुत सारी फुंसियां हो जाती है और लगातार फैलती जाती हैं.) का रोग होता है न? इसकी कोई दवा दुनिया में नहीं है. बड़े-बड़े डाक्टर-हकीम भी इस रोग के सामने हार मान जाते हैं. तुझे उसी की दवा ठाकुरजी बताते हैं. ध्यान से सुन."

दो क्षण चुप रहकर साधू बोला, "नाई को बुलाकर उकवत के रोगी के चांद का थोड़ा बाल दिलवाकर, उस्तरे की नोंक से उस पर दस-पांच टोप मारने को कहना. जब कुछ खून आ जाये तो उस पर तू अपने दायें हाथ के अंगूठे से यह दवा बैठा देना." कहकर साधू ने अपने बटुए से निकालकर एक पुड़िया सफूफ गत्ती की ओर बढ़ा दिया.

गत्ती ने पुड़िया लेकर माथे से लगायी और पलकें झपकाकर साधू की ओर देखने लगा.

साधू ने आगे कहा, "दवा लगाने के बाद तू रोगी को हिदायत्त देना कि इक्कीस दिन तक सिर पर पानी न डाले, कंधे से ही नहाये, उकवत्त के घाव की जगह को रोज ठंडे पानी से धोये और उस पर कोई दवा न लगाये. इक्कीस दिन के बाद खास सूख जाने पर एक गरीब ब्राह्मण या साधू को भोजन करा दे. हां, तू उससे कुछ न लेगा, न उसे कुछ देगा. अपने यहां उसे न ठहरायेगा, न कुछ बैठने को देगा और न एक लोटा पानी पीने को. नाई को वह जो चाहे दे. एक बात का और ध्यान रखना, इतवार और मंगलवार को ही तू यह दवा लगाना... और किसी दिन नहीं. समझा न?"

"जी, बाबा!" गत्ती ने ताज्जुब और खुशी से आंखें झपकाकर कहा, "लाकी जब यह पुड़िया खतम हो जाये तब, बाबा?"

साधू जोर से हंसकर बोला, "सबर रख, बच्चा. ठाकुरजी तुझे इसका भेद भी बता देते हैं. बहुत मामूली चीज है. चिलम तू पीता है न? उसी की सात हिस्सा खोंठी और एक हिस्सा नमक मिलाकर पीसकर पुड़िया में रख लेना. एक बात का खयाल रखना. मांस, मछली, ताड़ी-दारू न खाना-पीना, झूठ न बोलना, अपना चाल-चलन ठीक रखना. यह कंठी अपने गले में डाल ले." कहकर साधू ने उसे एक कंठी अपने बटुए से निकालकर दी. और फिर बोला, "और देख, जब तू मरने लगना तो यह भेद अपनी औरत या बेटे-बेटी में से किसी एक को बता देना. तेरे घर में यह सदा चलता रहेगा. अच्छा, अब तू जा, ठाकुरजी आराम करेंगे."

दूसरे दिन सुबह गत्ती उठा तो साधू जा चुका था. गत्ती के गले में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

▣ भैरवप्रसाद गुप्त
जन्म : 7 जुलाई, 1918
शिक्षा : बी.ए. (इलाहाबाद विश्वविद्यालय)
—12 उपन्यास, 10 कहानी संग्रह और एक नाटक प्रकाशित. दो उपन्यास शीघ्र प्रकाश्य. 'विवाद' साहित्यिक विवादात्मक लेखों का संग्रह प्रकाशनाधीन.
—माया, मनोहर कहानियां, मनोरमा, कहानी, नयी कहानियां और समारंभ के परामर्शदाता, संपादन विभाग में कार्यरत एवं संपादक रहे.
—कई विदेशी उपन्यासों एवं कहानियों का अनुवाद.
—संप्रति : स्वतंत्र लेखन एवं जनवादी लेखक संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष.

कंठी देखकर लोगों ने पूछा-ताछा तो गत्ती ने रात की कथा सबको खुश-खुश सुना दी.

मुंह-मुंह से बात फैली और देश के कोने-कोने में छा गयी. कोई ऐसा इतवार और मंगल नहीं, जब गत्ती के दरवाजे पर उकवत के रोगियों की भीड़ न लगी होती. दूर-दूर से, कलकत्ता, बंबई और दिल्ली तक से उकवत के अमीर-गरीब रोगी उस मामूली किसान, गत्ती के दरवाजे दवा लगवाने आने लगे. टीसन से पंद्रह मील दूर, अनजाना छोटा-सा गांव, न कोई सरन-सवारी, फिर भी लोग पूछते-आछते पहुंच जाते. लड़के, जवान, बूढ़े, पुराने रोगी और नये, जिसे जहां जैसे गत्ती की खबर मिलती, भागा-भागा आ पहुंचता. और कमाल यह कि सब अच्छे हो जाते.

और गत्ती कोइरी अब गत्ती भगत बन गया. उसके भोले-भाले धर्म-भीरू दिल और दिमाग पर साधू की बातों और दवा के कमाल का कुछ ऐसा असर पड़ा कि उसकी जिंदगी ही बदल गयी. वह बड़े नियम से स्नान-पूजा करने लगा, मांस-मछली खाना छोड़ दिया और ऐसा पवित्र आचरण करने लगा कि लोगों को आश्चर्य होता. सूरज पूरब के बजाय पश्चिम से उग जाये, यह संभव, लेकिन गत्ती भगत के मुंह से कोई झूठ बात निकल जाये, उससे कभी कोई पाप हो जाये, किसी मौके पर वह क्रोध-मोह-लोभ दरशाये, यह असंभव.

कई बार ऐसा हुआ कि कोई सेठ-साहूकार, जमींदार-ताल्लुकेदार या कोई हाकिम-अफसर दवा लगवाने उसके दरवाजे आया और खुश होकर या अपना बड़प्पन दिखाने के लिए या ईनाम के बतौर उस लंगोटी बांधे किसान को कुछ देना चाहा या उससे कुछ मांगने को कहा तो गत्ती भगत ने उसे ऐसे दुत्कार दिया, जैसे कोई क्या कुत्ते को दुतकारेगा.

और गत्ती भगत का नाम गांव में सबसे ऊंचा हो गया. क्या छोटा, क्या बड़ा, सब उसकी इज्जत करते, सब उसकी बात की कदर करते. कहीं कोई झगड़ा हो, पर पंचायत हो, गत्ती भगत को बुलाया जाता, और जो भी इंसाफ वह कर देता, सब सिर झुकाकर मान लेते. गत्ती भगत दूर-दूर तक अपनी ईमानदारी के लिए मशहूर हो गया.

देखते-देखते पूरे पच्चीस साल गुजर गये. जवान गत्ती भगत बूढ़ा हो गया. लेकिन कोई बात है कि कभी उसका पन टूटा हो, कभी उसके ईमान में कोई फर्क पड़ा हो.

और उसी गत्ती भगत की उस दिन कंठी टूट गयी. यह क्या कोई मामूली अफसोस और ताज्जुब की बात थी? जिसने सुना ताज्जुब से जीभ दबायी. जिसे मालूम हुआ, च-च किया. लेकिन गत्ती भगत . . .

बात यों हुई.

उन्नीस सौ पचास का जमाना था. जमींदार और किसानों के बीच गांव में तनातनी चल रही थी. सुनने में आ रहा था कि जमींदारी जल्दी ही टूटनेवाली है. और जो जमीन जिसकी जोत में है, उस पर उसी की भूमिधारी हो जायेगी. जमींदार की अपनी जोत में बहुत कम जमीन थी. उसके सारे खेत किसान सालों से सिकमी पर जोत रहे थे. जब जमींदार ने जमींदारी टूटने की अफवाह सुनी तो उसने एक फारम खोलने की घोषणा कर दी और यह बात फैला दी कि जो किसान यों न खेत छोड़ेगा, उसका खेत पुलिस द्वारा छिनवाकर फारम में मिला दिया जायेगा. ऐसा कानून बना है कि फारम के लिए सरकार अब सहूलियतें देगी और कानून के जोर से जितनी जमीन की जरूरत फारम को होगी, दिलायी जायेगी. पहले हल्ले में उसने कुछ किसानों के खेत निकलवा भी लिये. लेकिन जब किसानों को होश आया और उन्होंने देखा कि इस तरह तो सबके सब एक दिन बेदखल कर दिये जायेंगे तो उन्होंने अपनी पंचायत की. जीवन-मरण का सवाल था, पुश्तों से जोत में चले आये खेतों का वास्ता था, निकल गये तो किस सहारे जिंदगी काटेंगे? बहुत कोशिश की गयी कि गत्ती भगत पंचायत में आये और किसानों को सही सलाह दे, लेकिन वह नहीं आया. क़ानून वह नहीं जानता, बिना समझे-बूझे वह कैसे कुछ कह सकता था? फिर भी रात में किसानों की पंचायत हुई. खबर देकर रामाधार को बुलाया गया. रामाधार उस जवार के किसानों का कम्युनिस्ट नेता था. उसकी गिरफ्तारी के लिए कई वारंट निकल चुके थे, लेकिन उसे गिरफ्तार कर लेना कोई ठठ्ठा न था. किसान उसे वैसे ही छिपाये रहते, जैसे मुर्गी अपना अंडा छिपाये रहती है.

रामाधार के समझाने-बुझाने पर सबने मिलकर तय किया कि चाहे जो हो, वे अपना खेत न छोड़ेंगे. सब मिलकर जमींदार का मुकाबला करेंगे और बेदखल खेतों को भी उनके सिकमीदारों को वापस दिलायेंगे.

संघर्ष की दुदुंभी बज गयी.

दूसरे दिन बेदखल खेतों पर किसान दखल करनेवाले थे. जमींदार को हवा लगी तो वह खुद दौड़ा-दौड़ा थाने गया. अगर किसानों ने उनके निकाले खेतों पर कब्जा कर लिया तो उनका साहस बढ़ जायेगा. सब बना-बनाया खेल बिगड़ जायेगा. शुरू ही में किसानों का मनसूबा न तोड़ दिया गया तो फिर खैर नहीं. दारोगा की मुट्ठियां गर्म हुईं. उस पर जमींदार ने यह भी बताया कि रामाधार को वहां आसानी से गिरफ्तार भी किया जा सकता है. वह किसानों की लड़ाई का नेतृत्व करने जरूर कल वहां आयेगा—वही तो सब खुराफात की जड़ है, वरना क़िसानों की क्या हिम्मत, जो उनके सामने सिर उठाते? रामाधार को गिरफ्तार करना दारोगा के लिए वैसा ही था, जैसे किसी बड़ी तरक्की के लिए कोई विभागीय परीक्षा पास करना.

किसानों को जमींदार के इस हथकंडे का पता चला तो रात को पंचायत बुलायी गयी. रामाधार से पूछा गया कि अगर पुलिस मुदाखलत करे तो उन्हें क्या करना चाहिये? सवाल बहुत टेढ़ा था. सबकी अलग-अलग राय थी. कोई कहता कि बेदखल खेतों को अभी न छेड़ना ही बेहतर है. कोई कहता, हम पुलिस से भिड़ लेंगे. कोई कहता, जमींदार से समझौता कर लिया जाये, आदि-आदि. रामाधार का कहना यह था कि मामला सिर्फ इसी गांव का नहीं है. जवार के सभी गांवों में जमींदार और पुलिस यही धांधली कर रहे हैं. पुलिस का मुकाबला करना अकेले एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांव के बूते की बात नहीं है. सब गांवों के किसानों को मिलाकर यह मोरचा लेना चाहिए. तमी मसला हल हो सकता है. मसले को छोड़ने या मुल्तवी करने से सब किसान एक-एक कर पिट जायेंगे और एक दिन सब बेदखल कर दिये जायेंगे.

बात आसान न थी. बातचीत होते-होते देर हो गयी. चारों ओर सोता पड़ गया. लेकिन किसी नतीजे पर पहुंचना अब भी मुश्किल दिखायी दे रहा था. जिनके खेत बेदखल हुए थे, वे चाहते थे कि कुछ ऐसा जल्द और जरूर किया जाये कि उनके खेत वापस मिल जायें. वे जान देने के लिए भी तैयार थे.

तभी रामाधार के एक साथी ने दौड़े-दौड़े आकर बताया कि पुलिस की दौड़ आ गयी है. अपने बचाव का तुरंत इंतजाम करो.

सब हड़बड़ में उठ खड़े हुए. अब?

गांव में ठहराना ठीक नहीं. तलाशी हो सकती है. सब बाहर आये, तो बूटों की आवाज पास ही सुनायी पड़ी. सूचना देर से मिली थी. अब सोचने-समझने का वक्त कहां? सबको बिखर जाने को कहकर रामाधार अपने साथी के साथ आगे बढ़ा कि अंधेरे में सामने बूटों की आवाज आयी. वे बगल की गली में मुड़े तो उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि चारों ओर से बूटों की आवाज आ रही है. रामाधार साथी को एक ओर जाने का इशारा कर खुद सामने के घर की ओर बढ़ा तो साथी ने फुसफुसाकर कहा, "उस घर में नहीं. वह गत्ती भगत का घर है. पूछने पर वे सब सच-सच बता देंगे."

आवाजें नजदीक आती जा रही थीं. कोई चारा न था. रामाधार ने कोई हर्ज नहीं' का संकेत किया और घर की ओर बढ़ गया.

दरवाजा खुला था. दालान में गत्ती भगत पीढ़ी पर बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था. रामाधार ने सामने जाकर कहा, "दादा, पुलिस पीछे पड़ गयी है. भागने का किसी ओर रास्ता नहीं."

गत्ती भगत हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ. फिर एक क्षण कुछ सोचकर उसने रामाधार की बांह पकड़कर, बिना कुछ बोले, उसे अंदर ढकेल दिया और खुद पीढ़ी से उठ, बाहर सहन में आ दरवाजा खुला छोड़, बैठकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा.

रातभर पुलिस गांव में हड़कंप मचाये रही. सब ओर से नाके-बंदी करके, सारी गलियां बूटों से रौंद दी गयीं. लेकिन फरार का कहीं पता न चला. तब जमींदार की राय से खाना तलाशी हुई. कहीं न कहीं गांव में रामाधार छिपा होगा. दौड़ बिलकुल वक्त पर पहुंची थी. वह भागकर कैसे निकल सकता है?

सहमे हुए औरत-मर्द और बच्चे एक ओर खड़े हो जाते. पुलिस दो छन में तलाशी ले लेती. छोटे-छोटे घर और झोंपड़े. देखने-सुनने में वक्त ही कितना लगता? आगे-आगे जमींदार और दारोगा और पीछे-पीछे पुलिस के सिपाही.

गत्ती भगत बदस्तूर सहन में बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था, जैसे जो कुछ गांव में हो रहा था, उसे कुछ पता ही न हो. पुलिस का दल जब सहन में पहुंचा तो वह हुक्का हाथ में लिये हो खड़ा हो गया और उसने जमींदार और दारोगा को सलाम किया जमींदार ने पूछा, "रामाधार, कहीं तुम्हारे घर में तो नहीं घुसा?"

गत्ती भगत ने आंखें झपकाकर कहा, "इस घर में उसका का काम, सरकार? मैं तो सांझ से ही यहां सहन में बैठा हूं. का करूं, रात में नींद नहीं आती. अब चला-चली का बखत आ गया." कहकर उसने जम्हाई ली.

"हम तलाशी लेना चाहते हैं." दारोगा ने कहा.

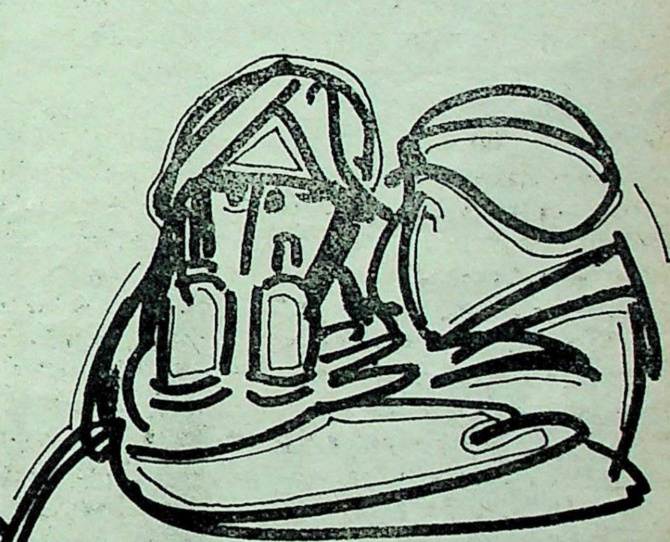

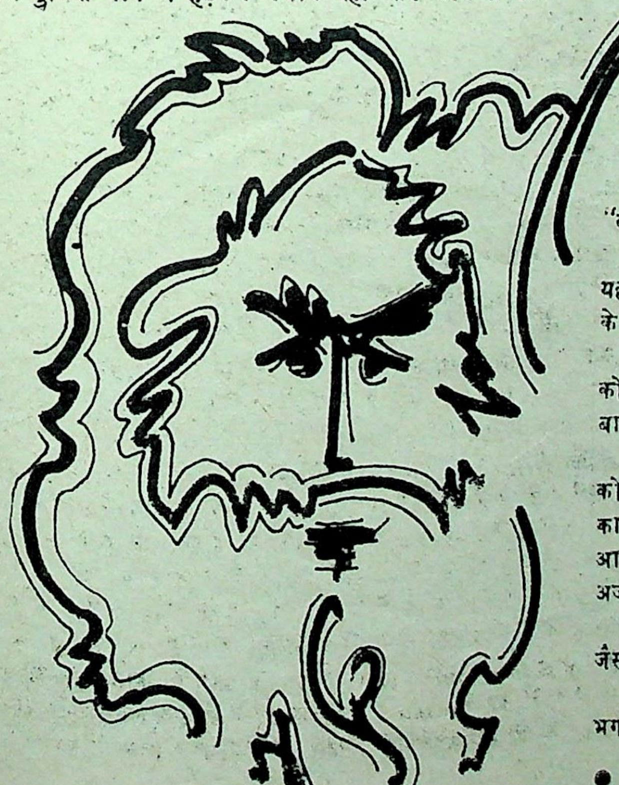

"ले लीजिए, सरकार." गत्ती ने हुक्का दीवार से टिकाकर कहा, "दरवाजा तो खुला ही है."

"नहीं, कोई जरूरत नहीं. बेकार वक्त खराब करना ठीक नहीं. यह गत्ती भगत है. कभी झूठ नहीं बोलता. आगे चलिए." और जमींदार के पीछे-पीछे दल आगे बढ़ गया.

रामाधार तो बच गया, लेकिन गत्ती भगत की यह बात जब लोगों को मालूम हुई तो सभी के मुंह से अफसोस और ताज्जुब के साथ एक ही बात निकली, "गत्ती भगत की कंठी टूट गयी!"

लेकिन गत्ती भगत से जब कोई पूछता तो वह कहता, "कंठी काहे को टूट गयी? गाय को कसाई के हाथ से बचने के लिए झूठ बोलना का पाप है? अगर मैंने कोई पाप किया है तो मेरे हाथ में जस नहीं रहेगा. आज से जो दवा मैं लगाऊंगा, उससे रोगी अच्छा नहीं होगा. मेरे जस-अजस की यही कसौटी है."

और लोगों ने दुगुने ताज्जुब से देखा कि गत्ती भगत के हाथों का जस जैसा का तैसा बना रहा. उसकी दवा के कमाल में कोई फर्क नहीं आया.

लेकिन उस दिन से जमींदार और दारोगा की नजरों में गत्ती भगत बदल गया. उसका नाम कम्युनिस्टों में लिख दिया गया. □

● 1 एफ/1, बेनीगंज, इलाहाबाद-211016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रियजी

— उपेंद्र नाथ अश्क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेमेल शादियां अपने-आप में अभिशाप हुआ करती हैं. खासकर तब जबकि किसी युवती का विवाह ऐसे व्यक्ति से हो जाता है, जिसके कि उस युवती की उम्र के ही बेटे-बेटियां भी हों! —अश्कजी ने इस सामाजिक और पारिवारिक समस्या को अतीत, वर्तमान और भविष्य के संदर्भ सहित रेखांकित करते हुए, कई ऐसे सवाल प्रस्तुत किये हैं, जिनका उत्तर हम सबके रूप में पूरे समाज को, आज नहीं तो कल देना ही होगा . . .

अपने कद की लंबाई के बावजूद प्रियेजी किशन के कंधे तक आती थीं. दोनों, लोअर बाजार की भीड़ में रास्ता बनाते, अपने में मगन, लगातार बातें करते हुए बढ़े जा रहे थे. चेतन यथासंभव जरा फासले से उनके पीछे चला जा रहा था. यद्यपि करीब से देखने पर प्रियेजी की उम्र किशन से कुछ बड़ी लगती थी, लेकिन उस वक्त चेतन के आगे चलती हुई वह जोड़ी उसे बहुत सुंदर दिखायी दी थी.

अचानक भीड़ में चलता हुआ चेतन जैसे अकेला हो गया. प्रकट उसकी आंख प्रियेजी पर लगी रही, लेकिन निरंतर उनकी-सी गति से उनके पीछे चलते हुए, वह महीना-डेढ़-महीना पीछे चला गया, जब 14 नंबर की सीढ़ियों पर उनके फ्लैट में उसने पहली बार उनके दर्शन किये थे और उनके पति के मुंह से उनके लिए यह अजीब संबोधन सुना था—'प्रियेजी.'

▣

शाम का वक्त था. चेतन ट्यूशन पढ़ाने के बाद छोटे शिमले से माल पर आ रहा था कि सहसा उसे सामने घाटी में बहुत ही सुंदर नजारा दिखायी दिया. वह बॉल-रूम के सामने वाले हवा घर में क्षण भर को रुक गया और रेलिंग के साथ खड़ा सामने का नजारा करने लगा था—कैंबर मियर पोस्ट-ऑफिस की तरफ से घाटी में लगातार गुलाबी बादल उतर रहे थे. लगता था, जैसे गुलाबी रंग का कोई जल-प्रपात उस कोने से घाटी में झर रहा हो. चेतन ने पहले कभी गुलाबी बादलों का ऐसा सैलाब नहीं देखा था. मंत्रमुग्ध-सा, परम तन्मय भाव से वह उस दृश्य में खोया था कि तभी किसी ने उसके कंधे पर हाथ रखा. चेतन मुड़ा.

"आप क्या चेतनजी हैं?"

"जी!"

बुजुर्ग ने मिलाने को हाथ बढ़ाया, "मैं डॉक्टर गोपालदास हूं. पहचाना?"

लेकिन चेतन के चेहरे पर पहचान का कोई चिह्न नहीं था.

तब डॉक्टर गोपाल दास ने उसे याद दिलाया कि पिछले व शिमला आते हुए गाड़ी में वे उससे मिले थे तो हठात चेतन की आंखों में एक दृश्य आ गया.

. . . गाड़ी कालका के निकट पहुंच रही थी. उसके साथी सब उठ कर बैठ गये थे. तभी उसे अपना नाम सुनायी दिया था. चेतन ने आवाज की दिशा में आंखें घुमायी थीं तो उसे सामने, ऊपर की सीट पर, निक्कर-कमीज पहने, तभी जगकर बिस्तर पर बैठे एक बुजुर्ग दिखायी दिये थे. . . गोरे-चिट्टे, हृष्ट-पुष्ट—चेतन को उनके और मुसोलीनी के चेहरे में कुछ अजीब-सा साम्य लगा था. अंतर केवल यह था कि उनका चेहरा मुसोलीनी के चेहरे की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ था और नीचे का जबड़ा किंचित ढलक आया था.

"आप क्या अफसाना-निगार हैं?" उन्होंने पूछा था.

"जी हां!"

"'बंदे मातरम्,' 'भीष्म' और 'देश' वगैरह में आपकी कहानियां निकलती हैं?'"

"जी हां."

"मैंने अभी दो-एक बार आपका नाम सुना तो सोचा कि आप वही चेतन न हों, जिनकी कहानियां मैंने इन अखबारों में पढ़ी हैं."

कालका को जाने वाली गाड़ी में अचानक अपना एक पाठक पाकर, चेतन बहुत खुश हुआ था.

"आप कहां रहते हैं?" उसने पूछा था.

"शिमला में!"

"हम भी वहीं जा रहे हैं."

"कहां ठहरेंगे?"

"यह तो मैं नहीं जानता." चेतन ने कहा था, "कविराज रामदास के साथ जा रहा हूं."

"मैं वहीं माल पर, 14 नंबर की सीढ़ियों के एक मकान में रहता हूं." बुजुर्ग ने कहा था, "मेरा नाम गोपालदास है. मैं रिटायर्ड सर्जन हूं. आप वहां जरूर मिलिएगा."

हवाघर में जब उन्होंने अपनी याद दिलायी तो उनके निचले जबड़े को देखकर चेतन को सब कुछ याद आ गया. डॉक्टर गोपालदास पिछले वर्ष की अपेक्षा कुछ ज्यादा बूढ़े दिखायी देते थे. हालांकि न उनकी कमर झुकी थी, न कंधे, पर उनका शरीर, जो कभी खूब गठा हुआ रहा होगा, खासा ढीला हो आया था और यह ढीलापन उनके जबड़े के निचले भाग से और भी नुमाया था. चेतन ने अंदाजा लगाया . . .वे लगभग साठ के होने को आये थे. . .अगरचे लगते पचास-पचपन के थे.

"पिछले साल क्या आप कुछ दिन ही रहकर चले गये थे?" डॉक्टर साहब ने पूछा था.

"जी नहीं, मैं लगभग तीन महीने रहा था."

"आप मिले क्यों नहीं?"

"मैं रूल्दू भट्टे में रहता था. कभी आपसे मुलाकात नहीं हुई. आपके घर का पता मैं भूल गया था."

"घर क्या, मैंने यहीं 14 नंबर की सीढ़ियों पर एक फ्लैट ले रखा है." डॉक्टर साहब ने कहा, "जब से रिटायर हुआ हूं, यहीं रहता हूं."

फिर क्षण भर रुककर उन्होंने कहा था, "चलिए न, यहीं कैंबर-मियर पोस्ट-ऑफिस के जरा आगे ही तो है."

चेतन ने क्षण भर को फिर घाटी पर निगाह दौड़ायी, "वहां गुलाबी बादलों का कहीं निशान न था. बादल थे, लेकिन पश्चिम में सूरज के बिल्कुल अस्त हो जाने से अब उसका बिंब उन पर नहीं पड़ रहा था और इस बीच वे उदास से चुपचाप कैंबर मियर के कोने से घाटी में बह रहे थे. चेतन ने लंबी सांस ली और वह डॉ. गोपालदास के साथ चल पड़ा.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रास्ते में डॉक्टर साहब उसे अपने बारे में बताते रहे थे कि वे कहां-कहां नौकरी करते रहे. उनके पांच बच्चे थे. . . तीन लड़के और दो लड़कियां, लड़कियों की शादी हो चुकी थी और रिटायर होने के बाद वे अपनी पत्नी के साथ स्थायी रूप से शिमला में रहते थे. पेंशन आती और पचास हजार के कैश-सर्टिफिकेट उन्होंने खरीद रखे थे. कैश-सर्टिफिकेटों के ब्याज और पेंशन के रुपये से उनका खर्च बखूबी चल जाता था.

चेतन उनकी बातें सुनते-सुनते, विलो बैंक के पास पहुंच गया. वहां से दूकानों का सिलसिला कट गया था और शिमले का पूरा दृश्य दिखायी देता था. बायीं ओर को, पश्चिम से क्षितिज पर सिंदूरी आभा बिखर रही थी और यद्यपि दायीं ओर, ऊपर से नीचे तक, बत्तियां टिमटिमाने लगी थीं, लेकिन मकानों पर हल्की-सी पीली आभा अभी तक बिखरी हुई थी.

लोअर बाजार, जहां माल में आकर मिलता है, उससे थोड़ा ऊपर, 14 नंबर की आधी सीढ़ियां उतरकर वे बायीं तरफ के एक बारजे में दाखिल हुए. वहीं, दर्जी की दूकान के साथ एक फ्लैट में डॉक्टर साहब उसे ले गये. जिस कमरे में वे दाखिल हुए, वह फ्लैट का ड्राइंगरूम था. वहां एक काउच का सेट, एक लंबी सेंटर-टेबल और कुछ बेंत की आराम-कुर्सियां पड़ी थीं. उन्हीं में से एक पर तीस-पैंतीस वर्ष की गोरी, लंबी, सुंदर महिला बैठी स्वेटर बुन रही थी.

कमरे में सबसे पहले जिस चीज ने चेतन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया, वह उसकी सफाई और स्वच्छता थी. हर चीज साफ-शफ्फाक थी. दायीं तरफ, कोने में लिखने की एक मेज और कुर्सी रखी थी और उस पर पेपरवेट, कलम-दवात, ब्लाटिंग—हर चीज करीने से लगी थी, लगता था कि मेज और उसका सामान, सिर्फ दिखाने के लिए है और उसे कभी इस्तेमाल नहीं किया गया.

कमरे में दाखिल होते ही, डॉक्टर साहब ने कहा, "प्रियेजी, एह चेतनजी हन. बड़े अच्छे कथाकार हन."

फिर चेतन से उन्होंने कहा, "एह मेरी सहधर्मिनी अतृप्ताजी हन."

महिला के माथे पर हल्की-सी वितृष्णा की लकीर बन गयी. फिर उसके नुकीले चेहरे पर हल्की स्मिति ऊपर से नीचे को उतरी और अपनी कुर्सी से उठते हुए उसने कहा, "आओ भराजी, जी आया नूं." (आइए भाई साहब, आपका स्वागत है.')

यद्यपि डॉक्टर साहब ने चेतन से काउच पर बैठने के लिए कहा, लेकिन वह मेज के साथवाली कुर्सी खींचकर बैठ गया.

तब महिला ने अपनी मुस्कान को कुछ और फैलाते हुए कहा,

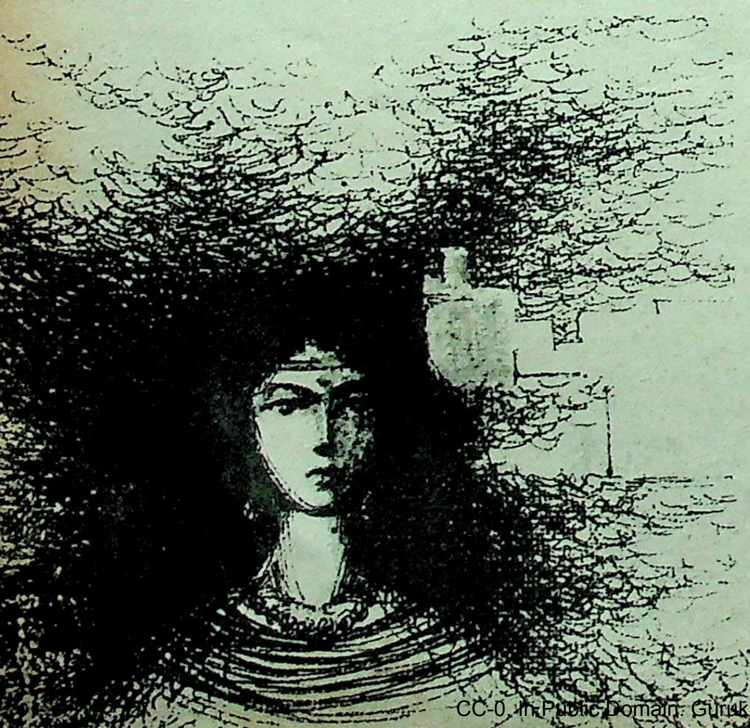

"डॉक्टर साहब ने आपकी कुछ कहानियां मुझे सुनायी हैं, आप बहुत अच्छा लिखते हैं."

चेतन का मन प्रसन्नता से खिल उठा. वह दैनिक समाचार-पत्रों के संडे ऐडीशनों और साप्ताहिकों से कभी ऊपर न उठा था. उसकी कोई कहानी 'अदबी दुनिया' अथवा 'हुमायूं' जैसे प्रसिद्ध उर्दू मासिक-पत्रों में न छप पायी थी, फिर भी लोग उसे पढ़ते और पसंद करते थे—इस एहसास ने उसके मन में गर्व की एक अव्यक्त-सी भावना भर दी, लेकिन अपने चेहरे पर उसने उस प्रसन्नता का कोई बिंब नहीं आने दिया. सायास उदासीनता से उसने कहा कि उसकी कहानियां अभी वैसी नहीं बन पायीं, जैसी कि वह चाहता है और अभी उसे काफी लंबा रास्ता तय करना है.

डॉक्टर साहब ने कहा कि यह तो उसकी विनम्रता है, वरना उन्हें और उनकी 'सहधर्मिनीजी' को तो उसकी कहानियां, बड़ी अच्छी लगती हैं. तब वे अपनी सहधर्मिनीजी की ओर पलटे और बोले, "प्रियेजी, कुछ चाय-वाय नहीं पिलायेंगी चेतनजी को!"

अगरचे चेतन 'न-न' करता रहा कि तकल्लुफ की जरूरत नहीं, वह चाय पीकर आया है और अभी जाकर वह खाना खायेगा, लेकिन डॉक्टर साहब उठे थे और घड़बड़ाते हुए बाहर चले गये थे.

'प्रियेजी,' चेतन ने मन ही मन दोहराया. किसी पंजाबी के मुंह से अपनी पत्नी के लिए यह संबोधन पहले कभी न सुना था, लेकिन डॉ. गोपालदास के मुंह से हर वाक्य से पहले 'प्रियेजी' निकल जाता था, उनके होंठ अजीब-सी खुशामद में फैल जाते थे, निचला जबड़ा लटक जाता था और उनकी 'प्रियेजी' के माथे पर एक और लकीर बन जाती थी.

प्रियेजी जाकर किचन में चाय का पानी चढ़ा आयीं. जब वे वापस आकर अपनी जगह बैठीं तो चेतन ने कहा, "डॉक्टर साहब ने जब बताया कि उनके पांच बच्चे हैं. . . तीन लड़के और दो लड़कियां... और दोनों लड़कियों की शादी हो चुकी है तो मैं उनकी पत्नी के रूप में खासी बूढ़ी महिला को देखने की आशा करता था, पर आपको देखकर तो मैं हैरान रह गया हूं, आपने अपने शरीर को ऐसा संभालकर रखा है कि आपकी उमर तीस-पैंतीस से जरा भी ज्यादा नहीं लगती."

तब अतृप्ताजी ने बताया कि उनकी उमर तो सिर्फ पच्चीस की है; वे डॉक्टर साहब की दूसरी पत्नी हैं और दस वर्ष पहले ही डॉक्टर साहब से उनका ब्याह हुआ था.

चेतन क्या कहे, कुछ तय न कर पाया. हालांकि अतृप्ताजी ने अपनी उमर दस वर्ष कम बतायी थी, वे निश्चित रूप से पैंतीस की होंगी, तो भी उनमें और डॉक्टर साहब में, लगभग दुगने का फर्क था.

"मैं तो बड़ी पतली-दुबली थी," उन्होंने कहा था, "इधर कुछ मोटी हो गयी हूं." और एक उदास मुस्कान उनके चेहरे पर फैल गयी थी.

आपके कितने बच्चे हैं?" चेतन ने पूछा था.

"मेरे कोई बच्चा नहीं," स्वेटर में सलाइयां चलाते, उन्होंने कहा था. पलभर रुककर, उन्होंने लंबी सांस ली थी और जैसे स्वेटर ही से बोली थीं, "आप कहानियां लिखते हैं. कभी किसी मेरी जैसी की भी कहानी लिखी है आपने?"

चेतन अप्रकृतिस्थ-सा हो आया था. वहां बैठे रहने में उसे उलझन होने लगी थी. उसने चाहा था कि डॉक्टर साहब आ जायें और वातावरण उनकी खुशामद-भरी 'प्रियेजी' से कुछ हलका हो जाये. बैठे-बैठे, उसने स्वेटर बुनती उस महिला की ओर कनखियों से देखा था. . . वह दस वर्ष पहले जरूर पतली-छरहरी और बहुत सुंदर रही होगी, लेकिन उसका शरीर कुछ ढीला हो आया था. उसकी आंखों के निचले पपोटे कुछ भारी हो गये थे, गाल भरे-भरे थे और लगता था कि वह नुकीला चेहरा, भराव के कारण, अदृश्य रूप से कुछ नीचे को ढलक रहा है.

वहीं स्वेटर में निगाहें गाड़े, अतृप्ताजी ने चेतन को बताया कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके मां-बाप बचपन ही में परलोक सिधार गये थे. उन्हें उनके मामा ने पाला था. वे मैट्रिक पास कर चुकीं तो मामा ने उनकी शादी के लिए विज्ञापन दिया. डॉक्टर साहब की पत्नी उसी वर्ष उन्हें छोड़कर चल बसी थी. विज्ञापन के उत्तर में वे स्वयं उनके मामा से मिले. वे तब सियालकोट में सर्जन थे. उन्होंने अपनी उमर सिर्फ पैंतीस बतायी, पच्चीस हजार के कैश-सर्टिफिकेट वे साथ ले आये थे. अपने वयस्क लड़के-लड़कियों की बात वे एकदम छिपा गये थे और मामा ने उनकी नौकरी और रुपये को देखकर उन्हें वहां ब्याह दिया और जब वे ब्याह-कर आयीं तो कितनी ही देर तक उन्हें इतने बड़े-बड़े लड़के-लड़कियों का पता नहीं चला. डॉक्टर साहब ने अपनी लड़कियों को गांव और लड़कों को हॉस्टलों में भेज दिया था, लेकिन यह बात कभी छिपी रह सकती है. . . .

उनके मामा के खिलाफ कुछ कहने के लिए चेतन ने जबान खोली ही थी कि अतृप्ताजी ने उसकी बात बीच ही में काट दी. . .

"नहीं, उनका दोष क्या है?" वे बोलीं, "मामा भोले-भाले आदमी, दुनिया का छल-प्रपंच वे क्या जानें! डॉक्टर साहब को मिलने गये तो वहां उन्हें कोई लड़का-लड़की नहीं दीखा. जाने इन्होंने कैसे सब मैनेज किया और उन्हें संतुष्ट कर के गाड़ी में बैठा दिया."

वे चुपचाप सलाइयां चलाती रहीं. फिर उसी धीमे स्वर में. . . उसी तरह, जैसे अपने स्वेटर से बात करते हुए उन्होंने कहा, "इनके लड़के-लड़कियां सब इस शादी के खिलाफ थे. शुरू के सात वर्ष उस घर में मैंने कैसे काटे, यह मैं ही जानती हूं. खुद मैंने दोनों लड़कियों की शादियां कीं, लड़कों को शिक्षा दिलायी, पर मैं ऊब गयी, मेरा शरीर स्वाहा हो गया. तीन साल पहले, जब ये रिटायर हो गये, मैं यहां आ गयी."

"क्या अब भी आपके बच्चे आपके खिलाफ हैं?" चेतन ने पूछा.

"सिर्फ छोटा, जो लगभग मेरी ही उमर का है, मुझसे बोलता है." अतृप्ताजी ने उत्तर दिया, "बाकी सब नाराज हैं. डॉक्टर साहब ने मकान बेचकर, कैश-सर्टिफिकेट खरीद लिये हैं और उनके बेटे समझते हैं, जैसे यह सब मेरे कहने से हुआ है. हालांकि ये कैश-सर्टिफिकेटों को, चारे की तरह, कभी उनके आगे लटका देते हैं, कभी मेरे आगे."

उनके पतले होंठों पर एक क्षीण-सी, तिक्त मुस्कान फैल गयी थी. उन्होंने फिर एक लंबी सांस ली थी.

चेतन को फिर कुछ उलझन-सी हुई थी. वह इस औरत को कैसे तसल्ली दे? वह चुप बैठा रहा था. कमरे में दो पल की चुप्पी छा गयी थी. फिर उन्होंने कहा, "इन्होंने आपकी कहानियां सुनायीं और जब कहा कि ये आपको जानते हैं तो मैंने ही इन पर जोर दिया था कि आपको लायें. शायद कभी आप मेरी जिंदगी की कहानी भी लिखें. कुछ है इसमें लिखने लायक कि नहीं ?. . . .आप लिखना चाहेंगे तो मैं आपको सब घटनाएं विस्तार से बताऊंगी."

चेतन क्या उत्तर दे? उसकी समझ में कुछ नहीं आया था. वह चुप बैठा, एड़ी के बल, पैर को इधर-उधर करता रहा था. . . तभी डॉक्टर साहब हाथ में बड़ा-सा दोना और लिफाफे लिये आ गये थे.

"प्रियेजी, मैं मिठाई ले रहा था तो वहां गर्म-गर्म समोसे निकल रहे थे. चेतनजी का तो मुझे पता नहीं खाते हैं कि नहीं, इनके लिए तो रसगुल्ले और नमकीन लाया हूं, पर आपके लिए समोसे ले आया."

चेतन ने देखा, जब वे कुछ अजीब-सी दयनीयता से होंठ फैलाते हुए, 'प्रियेजी,' 'प्रियेजी' करते थे तो प्रायः उनकी पत्नी का चेहरा नितांत निरपेक्ष रहता था. इस संबोधन से ही चेतन को आभास मिल गया था कि उनके संबंधों में कुछ ऐसा है, जो 'नार्मल' नहीं है. यह निहायत तकल्लुफ-भरा संबोधन आत्मीयता से एकदम रिक्त था और अपनी युवा पत्नी को प्रसन्न करने के लिए, एक बुड्ढे की असफल और भोंडी कोशिश से ज्यादा कोई महत्व न रखता था.

चेतन पांच बजे ट्यूशन खत्म कर देता था. शाम को उपयोगी रूप से इस्तेमाल करने के लिए उसने माल पर एक टाइपिंग इंस्टीट्यूट में दाखिला ले लिया था और साढ़े पांच से टाइप सीखता था. वापसी पर वह प्रायः डॉ. गोपालदास के फ्लैट पर जाता था. अतृप्ताजी हमेशा उसे चाय पिलाती थीं और डॉ. गोपालदास न होते तो अपना मन उसके सामने खोलकर रख देती थीं.

लोअर बाजार में उनके पीछे चलते हुए उसके दिमाग में कई मुलाकातें घूम गयीं.

"भराजी, आप 'हिंदी रत्न' की ट्यूशन पढ़ाते हैं," एक शाम उन्होंने कहा था, "क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मैं भी 'हिंदी रत्न' और 'भूषण' वगैरह पास करके अंग्रेजी की परीक्षाएं दे लूं?"

"हो क्यों नहीं सकता बहनजी," चेतन ने कहा था, "जहां चाह है, वहां राह है."

"पहले तो मैंने नहीं सोचा था," अतृप्ताजी बोलीं, "शादी के दो-एक बरस बाद तक तो मुझे अपनी पोजीशन का ही ठीक से पता नहीं चला. फिर पता चला तो मैं जैसे ठगी-सी रह गयी. कुछ सूझ ही नहीं पाया. ये भी एक जगह नहीं टिके. रिटायर होने के बाद यहां आ गये. अब कभी-कभी बहुत अकेलापन महसूस होता है. सोचती हूं, मेरे पास भी कोई हुनर होता तो कितना अच्छा होता. बिना किसी हुनर के, यहां नारी कितनी मजबूर है."

उन्होंने लंबी सांस ली थी और क्षणभर को चुप हो गयी थीं. फिर उन्होंने कहा था, "मेरी सबसे बड़ी बदकिस्मती यह है कि मैं कुल दस जमात पढ़ी हूं. मैट्रिक पास को तो आज कहीं नौकरी नहीं मिल सकती."

चेतन ने उन्हें पहली बार देखा था तो उसे लगता था—वे कम से कम बी. ए. पास होंगी. उनके पहनने-ओढ़ने और घर को सजाने-संवारने में कहीं ढूंढ़े से भी फूहड़ता का आभास न मिलता था. न उनकी बोली ही से पता चलता था कि वे कम पढ़ी-लिखी हैं. यद्यपि यह बात वे उसे पहले भी बता चुकी थीं, पर चेतन को जैसे विश्वास ही न होता था. वे सुशिक्षित भले ही न हों, पर सुरुचि-संपन्न और सुसंस्कृत जरूर थीं.

अपनी बात कहकर, वे चुप हो गयी थीं और स्वेटर बुनने लगी थीं. चाय पीता हुआ चेतन उनके गोरे-गंभीर मुख को और देखता रहा था. . . यह खूबसूरत, जवान औरत अपने बूढ़े पति के साथ इस रौनक-भरे बाजार के इतने नजदीक रहती है, सर्दियां भी ये लोग यहीं गुजारते हैं, इसे कभी-कभी अपनी तनहाई किस बुरी तरह से खलती होगी. अकारण नहीं कि दस वर्ष के वैवाहिक जीवन में ही इसका शरीर फूलकर ढल आया है.

चेतन कितनी देर तक उन्हें समझाता रहा था कि किस तरह उन्हें खुद ही हिम्मत करके 'हिंदी रत्न' की तैयारी करनी चाहिए. 'मोती लाल बनारसी दास', मिठठा बाजार, लाहौर से 'हिंदी रत्न' के पाठ्यक्रम की पुस्तकें और कुंजियां मंगा लें. एक शब्दकोश मंगा लें और स्वयं अध्ययन करें. बहुत कुछ तो कुंजियों और शब्दकोश की मदद से उनकी समझ में आ जायेगा, जो बातें समझ में न आयें, वे किसी पंडित से, दो-एक महीने ट्यूशन रखकर पूछ लें.

"बहनजी, करने वाले के लिए कुछ भी मुश्किल नहीं." उसने कहा था, "सभी विद्याओं की तरह पढ़ाई की भी जुगत होती है. कुछ लोग पढ़ते-पढ़ते आंखें फोड़ लेते हैं, लेकिन इम्तहान पास नहीं कर पाते, कुछ लोग कम पढ़ते हैं, ध्यान से पढ़ते हैं, चुनाव करके पढ़ते हैं और बहुत अच्छे नंबर ले आते हैं."

प्रियेजी, चुपचाप सिलाइयां चलाती हुई, उसकी बातें सुनती रही थीं. जब वह उठाकर जाने लगा था तो उन्होंने कहा था, "मैं डॉक्टर साहब से बात करूंगी. आप भी जरा उनसे जिक्र कीजिएगा."

इस बातचीत के बाद इतवार को चेतन सुबह जाकर राउंड लगाता हुआ डॉक्टर साहब के फ्लैट में रुक गया था. अतृप्ताजी लोअर बाजार से तरकारी लेने गयी हुई थीं. तब चेतन ने बात-बात में डॉक्टर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

▣ उपेंद्रनाथ अश्क
जन्म : जालंधर, 14 दिसंबर, 1910
शिक्षा : बी.ए. एल.एल.बी.
—पहली रचना 1926 में छपी. पंजाबी और उर्दू में एक अर्से तक लिखने के बाद 1934 से हिंदी में लिखना शुरू किया. अब तक 75 पुस्तकें प्रकाशित. अध्यापन, पत्रकारिता, वकालत, रंगमंच, रेडियो, फिल्मी दुनिया आदि के विभिन्न अनुभवों के बाद 1948 से इलाहाबाद में रहकर स्वतंत्र लेखन. आजकल 'गिरती दीवारें' उपन्यास के पांचवें तथा अंतिम खंड को पूरा करने के साथ अपनी साहित्यिक जीवनी 'चेहरे : अनेक' के भी पांचवें खंड की तरफ बढ़ रहे हैं.

'ये न मेरे नाम कुछ करना चाहते हैं, न यही चाहते हैं कि मैं पढ़ूं और कोई गुन सीखूं,"...दूसरी शाम बात चलने पर प्रियेजी ने चेतन को बताया था, "इनकी तो बस यही इच्छा है कि पूरी तरह इनकी दासी बनी रहूं. पिछले साल मैंने प्रो. सिंह से बाजा सीखना शुरू किया था.."

वे क्षण भर को चुप हो गयीं. शायद यह सोचने लगीं कि बात कहें या न कहें. . . .

"प्रोफेसर सिंह बहुत अच्छा गाते हैं." चेतन ने सोत्साह कहा था, "गालिब और इकबाल की गजलें तो ऐसी गाते हैं कि मैं तारीफ नहीं कर सकता."

"लेकिन जब वे गाना सिखाने आते थे तो डॉक्टर साहब ऐसे बैठे रहते थे, जैसे इनके उठते ही प्रोफेसर सिंह मुझे उड़ा ले जायेंगे."

और उनके होंठों पर एक दर्द-भरी, तिक्त मुस्कान खेल गयी थी. फिर वे धीरे-धीरे बोलीं, "ये चाहते थे कि वो मुझे कोई भजन वगैरह सिखायें. एक दिन ये रामानंद के भजनों का गुटका और आर्य-भजन-पुष्पांजली ले आये और प्रो. सिंह से कहने लगे, "प्रोफेसर साहब आप इन्हें कुछ भजन सिखाइए."

चेतन हंसा था, "प्रोफेसर साहब गजलें तो बहुत अच्छी गाते हैं," उसने कहा था, "लेकिन पिछले वर्ष में दो-ढाई महीने उनके साथ रहा हूं. मैंने उन्हें कभी भजन गाते नहीं सुना. शास्त्रीय संगीत तो थोड़ा-बहुत वे सिखा सकते हैं, लेकिन भजन-वजन उन्हें नहीं आते."

"उन्होंने एक भजन मुझे सिखाना शुरू किया था. . . 'जागियो गोपाल लाल,' प्रियेजी बोलीं, "लेकिन जब वे आलाप सिखाने लगे तो डॉक्टर साहब ने कहा, 'ये आप क्या आ. . . आ. . . ई. . . ई. . . इन्हें सिखा रहे हैं. किसी संगीत सम्मेलन में तो गाना नहीं इन्हें. सीधे-सादे भजन सिखाइए'. . . और प्रोफेसर सिंह ने पहले महीने की फीस ली तो फिर शक्ल नहीं दिखायी."

वे चुप हो गयी थीं. चेतन चाय पीता रहा था और वे मौन रूप से स्वेटर बुनती रही थीं. तभी सहसा चेतन ने पूछा था, "क्यों बहन जी, आपने खुद कैश-सर्टिफिकेट देखे हैं? पचास हजार के कैश-सर्टिफिकेट क्या डॉक्टर साहब के पास हैं?"

"शुरू-शुरू में मेरा मन बहुत उदास रहता था." प्रियेजी धीरे-धीरे बोलीं, "मैं ज्यादा बात नहीं करती थी. बस पत्थर बनी रहती थी. तब ये बहुत प्यार जताते थे. नयी-नयी साड़ियां और गहने लाकर देते थे. एक बार इनके बड़े बेटे ने हंगामा खड़ा कर दिया, तब इन्होंने मकान बेच दिया और मेरे और अपने नाम से पच्चीस हजार के कैश-सर्टिफिकेट ले लिये. पच्चीस हजार के सर्टिफिकेट इनके अपने नाम से थे. तीन बरस बाद जब उन्हें रिन्यू कराने की बारी आयी तो इन्होंने वो भी अपने नाम से करा लिये."

"लेकिन वह सब तो आपके दस्तखतों से हुआ होगा?" चेतन ने कहा.

साहब से उनकी पत्नी की इच्छा का उल्लेख किया था और कहा था कि उनके मन में आगे पढ़ने की बड़ी लालसा है, वे उन्हें लाहौर से पुस्तकें क्यों नहीं मंगा देते?

"रतन-वतन या भूषण-ऊषण पास करके ये क्या करेंगी ?" उसकी बात सुनकर डॉक्टर गोपालदास ने कहा था.

उत्तर देने के लिए चेतन कह सकता था, "आपकी उम्र बढ़ गयी है, आपके लड़के उन्हें पसंद नहीं करते. कल अगर आपको कुछ हो-हवा गया तो उनके सामने काफी दिक्कत उठ खड़ी होगी, इसलिए अगर पढ़ लिखकर वे अपने पैरों पर खड़ी हो सकें तो अच्छा ही है.". . . . लेकिन उसने कहा कुछ नहीं. वह चुप रहा. तब डॉक्टर साहब ने खुद ही कदरे सरगोशी में कहा था, "मैंने पचास हजार के कैश-सर्टिफिकेट जो ले रखे हैं, वे इन्हीं को तो मिलेंगे. ये बेकार ही इन्सिक्योर फील करती हैं."

"क्या आपने इनके नाम से ले रखे हैं?" चेतन ने पूछा था.

"नहीं, नाम से तो मैंने अपने ही ले रखे हैं, लेकिन. . . ."

हालांकि यह उनका नितांत निजी मामला था, लेकिन चूंकि वे पति-पत्नी उससे अपनी व्यक्तिगत बातें कर लेते थे, इसलिए उनकी बात काटकर चेतन ने कहा था, "आपके पांच लड़के हैं. क्या वे उस रुपये पर अधिकार न जमा लेंगे? उनका हक भी है. वे अपनी सौतेली मां को कानी कौड़ी तक न दें तो कोई कुछ नहीं कह सकता. कानून बीवी को सिर्फ खाने-रहने की सुविधा देता है. अगर पति खुद उसे कुछ नहीं दे जाता तो कानून पिता की जायदाद पर लड़कों का ही हक मानता है."

उसकी बात सुनते हुए डॉक्टर साहब का निचला जबड़ा कुछ लटक आया था. पूरी बात सुनकर उन्होंने कहा था, "मैं वसीयत कर जाऊंगा."

"वसीयतों को लेकर आये दिन झगड़े चलते हैं. कोई झूठे भी कह दे कि वसीयत नकली है या कुछ खिला-पिलाकर लिखा ली गयी है तो जितना रुपया मिलना नहीं होता, उससे कहीं ज्यादा अदालतों पर खर्च हो जाता है और हिंदुस्तान में औरतों की मिट्टी ख्वार होती है."

डॉक्टर साहब ने कोई उत्तर नहीं दिया, उसी तरह मुंह लटकाये, वे चुपचाप बैठे सोचते रहे.

तब परम हितचिंतक की तरह चेतन ने कहा था, "मैं आपसे उमर और तजरुबे में बहुत छोटा हूं. कुछ गलत कह दूं तो माफ कर दीजिएगा, लेकिन मेरी राय है कि आप पांच-पांच हजार के कैश-सर्टिफिकेट अपने पांचों लड़कों के साथ ज्वाइंट नाम से ले लीजिए और बाकी पच्चीस हजार अपनी पत्नी के साथ ज्वाइंट नाम से. तब न बहनजी इन्सिक्योर फील करेंगी, न आपके लड़कों को एतराज होगा."

डॉक्टर साहब ने कोई जवाब न दिया था. बस उनका जबड़ा कुछ और लटक आया था. लेकिन उन्हें कुछ कहने की जहमत नहीं उठानी पड़ी, क्योंकि तभी प्रियेजी अपने पीछे-पीछे कश्मीरी हातो के सिर पर तरकारी का टोकरा उठवाये वापस आ गयीं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"इन्होंने पहले कैश-सर्टिफिकेटों का सारा रुपया बैंक में जमा करा दिया. कहने लगे—इस रुपये से टाटा के शेयर्ज लेंगे, ज्यादा मुनाफा होगा—लेकिन कोई शेयर-वेयर नहीं लिया, चुपचाप अपने नाम से कैश-सर्टिफिकेट खरीद लिये. . . .मैंने अपने आपसे कहा था न कि मेरी कहानी बड़ी दिलचस्प है, आप लिखिए!"

वे क्षण भर के लिए चुपचाप सलाइयां चलाती रही थीं, फिर उन्होंने इतना और कहा था, अब कैश-सर्टिफिकेट ये सदा अपने साथ रखते हैं. दो-तीन दिन के लिए भी कहीं जाते हैं तो साथ ले जाते हैं. जैसे इनके पीछे मैं इनके कैश-सर्टिफिकेट खा जाऊंगी."

अभी कुछ देर पहले जब चेतन 14 नंबर की सीढ़ियां उतरकर उनके फ्लैट पर पहुंचा तो डॉ. गोपालदास के फ्लैट को जाने वाले लकड़ी के बरामदे में पैर रखते हुए चेतन ने उनके पड़ोसी दर्जी से पूछा था, "क्यों भाई, डॉक्टर साहब घर पर हैं?"

"वे तो शायद बाहर गये हुए हैं, दर्जी ने बिना सिर उठाये हुए कहा था."

"बाहर. . . . शिमले से बाहर?"

दर्जी ने सिर उठाया था. चेतन पिछले महीने में चूंकि कई बार आया था और वह प्रायः दर्जी से डॉक्टर साहब के बारे में पूछा करता था, इसलिए उसने कहा, "ट्रंक-बिस्तर लेकर गये हैं. शिमले से कहीं बाहर ही गये होंगे."

"मेम साहब हैं?"

दर्जी ने स्वीकार में सिर हिलाया था और फिर फ्राक काटने लगा था.

चेतन उसके पटड़े के पास से, फैले हुए कपड़े को बचाता और बरामदे के जंगले का सहारा लेता हुआ निकल गया था और जाकर उसने डॉक्टर साहब के फ्लैट पर दस्तक दी थी.

दरवाजा खुला तो क्षण भर के लिए चेतन हैरान-सा रह गया था. प्रायः उसकी दस्तक पर डॉक्टर साहब स्वयं अथवा प्रियेजी दरवाजा खोलती थीं और उसे बड़े आदर से अंदर ड्राइंग रूम में ले जाती थीं. लेकिन उस वक्त चेतन के सामने चौबीस-पच्चीस वर्ष का एक लंबा-तगड़ा, गोरा-चिट्टा, हृष्ट-पुष्ट युवक खड़ा था. चेतन क्षण भर उसे देखता रहा. फिर उसके पास से निकलकर गैलरी में आगे बढ़ा.

"डॉक्टर साहब सियालकोट. . . ." युवक ने कहना चाहा.

"मैं जानता हूं." चेतन ने उसे बात पूरी नहीं करने दी और आगे बढ़ गया था. तभी प्रियेजी की नजर उस पर पड़ी थी. वे बैठक में खड़ी थीं.

चेतन को देखते ही दो कदम आगे बढ़ आयी थीं. खिले माथे उसका स्वागत करते और मुस्कराते हुए उन्होंने कहा था, "आओ भराजी, जी आया नूं."

वह युवक भी चेतन के पीछे-पीछे बैठक में आ गया था. उसकी ओर देखकर प्रियेजी ने कहा था, "किशन इह चेतनानंद जी ने, बड्डे शायर अने कथाकार ने!" और फिर उन्होंने चेतन को उस युवक का परिचय दिया था, "भराजी इह किशन ए! साड्डा सभ तो छोटा-लड़का. मेरा तां इह लड़का भी ए ते दोस्त भी ए. रुड़की इंजीनियरिंग विच पढ़दा ए. मेरा सारा दुख-दर्द एहि ओ जाणदा ए!"

युवक ने एक कदम बढ़कर चेतन से जोरदार हैंड शेक करते हुए अंग्रेजी में उसका हाल-चाल जाना और उससे मिलने पर खुशी प्रकट की.

तब चेतन ने पहली बार उसे ध्यान से देखा था—किशन लंबा-ऊंचा हृष्ट-पुष्ट ही न था, गोरा और सुंदर भी था. घुंघराले बाल, चौड़ा माथा, घनी भवें, लंबी नाक, मोटे सेंसुअल होंठ—प्रकट ही वह डॉक्टर साहब पर पड़ा था. इतना ही अंतर था कि उसका जबड़ा उनकी तरह चौड़ा नहीं था—'यकीनन अपने पिता की बनिस्बत यह ज्यादा खूबसूरत है.' चेतन ने उसे देखकर मन ही मन कहा था. . .

तभी चेतन की दृष्टि किशन से हटकर सौतेली मां पर गयी थी. प्रियेजी के चेहरे पर पुरानी उदासी का कहीं नाम-निशान भी न था. उनका चेहरा, जो सुंदरता के बावजूद अपनी गंभीरता के कारण नीचे को ढलका-ढलका लगता था, किसी आंतरिक उल्लास से खिला-खिला और स्निग्ध दिखायी देता था. सूफियानी, लेकिन खासी कीमती साड़ी उन्होंने पहन रखी थी. गले में सुच्चे मोतियों की माला और कानों में मोतियों के सुंदर आवेजे थे. हल्का-सा मेकअप उन्होंने कर रखा था. इस पूरे महीने में चेतन ने पहली बार उन्हें यूं सजे-संवरे देखा था.

"बैठिए भाई साहब." उन्होंने चेतन से कहा था, फिर किशन से बोली थीं, "बैठो किशन, अभी चलते हैं. चेतनजी के लिए चाय का एक प्याला बना दें."

चेतन को चाय की आदत न थी, लेकिन वह जितनी बार डॉक्टर साहब के पास आया था (पिछले महीने में दस-बारह बार तो आया ही था) उन्होंने बड़े स्नेह से उसे चाय पिलायी थी. घंटा भर टाइप करने में उंगलियां और हाथ थकाकर (शरीर तो सीधे-तने बैठे उसका अकड़ ही गया था) जब वह इंस्टीट्यूट के नीचे उतरा था तो उसने सोचा था कि वह डॉक्टर साहब के घर चाय का एक गर्म प्याला जरूर पियेगा. लेकिन प्रियेजी की बात सुनकर, हठात उसे एहसास हुआ कि वे कहीं बाहर जाने के लिए तैयार हैं. तब वह बोला, "आप कहीं बाहर जा रही हैं क्या?"

"सनातन धर्म सभा हाल में टी. एल. टेक्सटाइल मिल्ज एंड इंडस्ट्रीज की नुमाइश चल रही है. सेल भी है," प्रियेजी ने मुस्कराते हुए कहा था, "किशन और मैं वहीं जा रहे थे. चलिए आप भी. आज आखिरी दिन है."

"चलिए!" और पलटकर वह बाहर की तरफ चल पड़ा था. वे लोग लोअर बाजार का आधा हिस्सा पार कर आये थे. मन ही मन पिछले एक घंटे की घटनाओं को दोहराता हुआ चेतन उतने ही फासले से चलता आया था. प्रियेजी बदस्तूर किशन की ओर को जरा सिर झुकाये, उससे बातों में मगन थीं. इस तमाम अर्से में उन्होंने एक बार भी पीछे मुड़कर उसकी ओर नहीं देखा था. अचानक चेतन को यूं उनके पीछे-पीछे चलते जाना नितांत निरर्थक और बेमानी लगा. वह निहायत बेवकूफ आदमी है—उसने मन ही मन अपने आपसे कहा. . . जब उसे मालूम हो गया था कि वे बाहर जाने को तैयार हैं और उन्होंने महज शिष्टाचारवश उसे साथ चलने के लिए कहा था तो उसे उतनी ही शिष्टता से बहाना बनाकर, फिर कभी आने का वायदा करके छुट्टी ले लेनी चाहिए थी. बरअक्स इसके वह दाल-भात में मूसरचंद बना उनके साथ चला आया है. वे तो नुमाइश में कपड़े खरीदेंगे, वह क्या करेगा.

. . .और सहसा उसका मन हुआ वह धीरे-धीरे पीछे रहता हुआ भीड़ में गुम हो जाये. लेकिन तभी उसे खयाल आया कि वह फिर उनके फ्लैट पर कैसे जायेगा और जब वे कहेंगी, "भराजी तुसीं ओस शाम कित्थे गायब हो गये साओ? असां तुहानूं ढूंढ़-ढूंढ़ के थक गये". . .तो वह क्या जवाब देगा?

और चेतन उसी असमंजस में उनके पीछे-पीछे चलता गया, लेकिन एक डेढ़-फर्लांग चलने पर उसने सोचा, वह कोई बहाना बना देगा, लेकिन इस तरह उनके पीछे-पीछे नहीं जायेगा. क्या वह डॉक्टर गोपाल दास का जासूस है जो इस तरह उन पर निगाह रखे उनके पीछे-पीछे चला जा रहा है. . . .और उसकी चाल धीमी होने लगी. उनमें और उसमें फासला बढ़ता गया, यहां तक कि वे दोनों आगे की भीड़ में गुम हो गये.

चेतन चुपचाप मुड़ा और धीरे-धीरे छोटे-शिमले की ओर चल पड़ा. □

● 5 खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद-1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखूं...?

-शिवानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रिया दामले के व्यक्तित्व में आखिर ऐसा क्या था, जो सबको आतंकित कर देता था? वह सुंदर थी, मेधावी थी, पैसे की उसके लिए कोई कमी नहीं थी . . . पर कहीं कुछ था जो लोग उससे कतराने लगते . . . ऐसे ही अनूठे व्यक्तित्व के मन की गुत्थियों को आपके सामने खोल रही हैं हिंदी की सुविख्यात और बहुपठित लेखिका.

यह प्रश्न पिछले दो वर्षों से मुझे विचलित कर रहा है. कई बार कलम उठा चुकी थी किंतु उतनी ही बार, हारकर रख दी. कभी चित्त बहुरूपिया बन, उदार दलीलें देता, कभी स्वयं कलम थाम लेता. आज तक स्मृति गह्वर से न जाने कितने कंकाल खींच पाठकों को थमा चुकी हूं, किंतु इस कथानक का उलझा सूत सुलझाने बैठती हूं तो वही धूसर स्मृति किसी अशरीरी-प्रेमछाया-सी मुझे सहमाने लगती है. छिः छिः यही मैत्री निभा रही है तू? मेरे जिस पलायन के कलंक को मेरे आत्मीय स्वजन भूल चुके हैं, जिस रहस्य के गड़े मुर्दे की कब्र को, लापरवाही से उग आये झाड़-झंखाड़ ने एकदम ही अदृश्य कर दिया है. उसी मुर्दे को उखाड़ रही है तू? भूल गयी है क्या कि मेरी एक विवाहिता पुत्री और है; भले ही आज वह सुदूर अफ्रीका के किसी गहन वनअरण्य में, अपने वैज्ञानिक पति के साथ किसी दुरूह शोधकार्य में ऐसी खो गयी है कि शायद ही कभी भारत लौटे. पर यदि कभी लौट आयी तो? ऐसा तो है नहीं कि उसके पास भारत की पत्र-पत्रिकाएं पहुंचती ही न हों! फिर तू मेरा नाम भी तो नहीं बदल रही है. कैसे बदलूं प्रिया! वह नाम ही तो तेरे व्यक्तित्व की व्याख्या कर सकता है. विधाता का दिया वह नाम मैं कैसे बदलूं!

फिर क्या तुम्हारा कलंक उजागर कर रही हूं—मैं तो केवल यह सिद्ध करना चाह रही हूं प्रिया कि तेरे पलायन का कलंक, कलंक नहीं था, विवशता थी! प्रिया दामले, अपने पितृकुल का ऐसा जगमगाता दीपक थी, जिसके देहरी पर रखते ही पितृकुल का बाहर-भीतर दोनों उजागर हो गया था.

उसके पिता, चार भाइयों में सबसे बड़े थे. दुर्भाग्य से तीन चाचाओं में से दो निःसंतान थे. तीसरे ने विवाह ही नहीं किया. इसी से बड़े लाड़-प्यार में पली प्रिया, बचपन से ही अबाध्य बन उठी थी. दस-बारह वर्षों तक उसे लड़कों के ही कपड़े पहनाये गये, वैसे ही छोकरा-कट बालों में वह एकदम लड़का लगती थी.

जब वह मेरी सहपाठिन बनकर हॉस्टल में आयी तो मैं ही नहीं, सब ही छात्र-छात्राएं उस छरहरी सुंदरी के तेजस्वी व्यक्तित्व से सहम से गये थे. लगता था, मधुमास में जन्मी किसी कलिका-सी उस किशोरी को सौकुमार्य, चापल्य, मार्दव से मंडित करने में विधाता ने, उन वनस्पतिजन्य रंगों का प्रयोग किया था, जिनका प्रयोग इन दिनों आश्रम के कलागुरु नंदलाल बोस कर रहे थे, पलाश, हरिद्रा, गुलवनप्सा, हरीतकी.

विधाता की उस प्रतिमा-प्रसूत सृष्टि को देख, सचमुच यही लगता था कि मोनालीसा के विश्वविख्यात चित्र की रहस्यमय मुस्कान को समझने की भांति प्रिया के दृढ़ता से भिंचे क्यूपिड अधरों की मुस्कान समझने के लिए भी शायद अनंतकाल तक व्यर्थ प्रयास चलते रहेंगे.

आश्रमगुरु रवींद्रनाथ ने शायद ठीक ही कहा था कि नारी सौंदर्य का अर्धभाग प्रकृति की देन है, किंतु उसका शेष सौंदर्य केवल काव्य है, प्रेमी और कवि की उर्वर कल्पना का परिणाम! मैं जानती हूं, यहां मेरे पाठक, शंका की नंगी संगीन लिये एक बार फिर मेरे सामने खड़े हो जायेंगे—ऐसी भी क्या कल्पना जो सदा की भांति सुंदरी नायिका को, कल्पना के तुरंग पर आरूढ़ कर, मानव पकड़ से दूर हवा में उड़ाकर रख दे!

किंतु मेरा आपसे अनुरोध है, मुझे उस दिव्य व्यक्तित्व की वर्णना, जी भरकर कर लेने दें, मैं आपको विश्वास दिलाती हूं, मेरी स्मृति, कल्पना को रंचमात्र भी प्रश्रय नहीं दे रही है.

'सुष्ठु उनत्ति आर्द्रयति मनः' यह तांत्रिक-साहित्य में भले ही त्रिपुरसुंदरी या योगिनी के लिए प्रयुक्त हुआ हो, प्रिया भी वैसे ही मन को आर्द्र करने में समर्थ थी. उसका वही तेज देख पहले हम सब सहम गये थे, किसी ने भी उसकी ओर मैत्री का हाथ नहीं बढ़ाया, अपने साथ वह बड़े-बड़े दो सूटकेस भरकर विचित्र परिधान लायी थी. राजस्थानी लहंगे, कच्छी-चुनर, जामनगरी छायल, चूड़ीदार कुर्ते, अंगरखे और लेडी हेमिल्टन रेशम की सलवार-कमीजें. उससे कई बार स्पष्ट कह दिया गया था कि आश्रम की कक्षा में वह केवल सूती साड़ी ही पहनकर प्रवेश पा सकेगी.

"ठीक है." उसने अपनी सुराहीदार ग्रीवा और तानकर कहा था, "हॉस्टल में तो जो जी में आये, वह पहन सकती हूं." और वह फिर वही करती थी. रात को आश्रम-भोजनालय में जाती तो उसके आते ही हंगामा मच जाता.

"ओई जे नामछेन आकाश थेके उर्वशी!" (देखो-देखो, उर्वशी आकाश से उतर रही है) वह न दायें देखती न बायें, अपने साथ लाया गया, बगुले के पंख-सा स्वच्छ नैपकिन गोद में धर, बंगाल का 'घंट', 'शुक्तो', 'चच्चड़ी' का गस्सा मुंह में धरते ही नाक चढ़ा पानी का एक घूंट पीकर उठ जाती. एक दिन मैंने ही उसे टोक दिया, "तुम तो रोज भूखी ही उठ जाती हो, खाती क्यों नहीं?"

"ऐसा खाना मेरे घर के कुत्तों को भी नहीं दिया जाता, कैसे चुपचाप खा लेती हो तुम लोग?"

आश्रम के एक-एक नियम को वह जिस दुःसाहस से रौंदे जा रही थी, उसे देख हम कांपे जा रहे थे कि अब इसकी पेशी निश्चय ही हमारी कठोर फ्रेंच दीदी के सामने होगी और वे निश्चित रूप से इस नकचढ़ी के अहंकार का भूत, एक पल में झाड़कर रख देंगी. किंतु, कुछ भी नहीं हुआ, पता यही लगा कि उसके पिता लार्ड सिन्हा, विधान राय एवं नीलरतन सरकार के अभिन्न मित्र हैं एवं उन्हीं के प्रभाव से प्रिया आश्रम में स्वच्छंद विचरण कर सकती है. ऐसा नहीं था कि उसे कभी गुरुजनों की फटकार मिलती ही नहीं थी. किंतु जब कभी मिलती, वही निषेध उसे और उद्धत बना देता.

सचमुच अद्भुत लड़की थी वह! आकाश को भी लांघ जाने का उसका अदम्य उत्साह, बाधाओं से जूझने को उसका सदा गर्वोन्नत सिर, कठोर कशाघात को सहकर भी किसी को कुछ न समझनेवाली मुद्रा, आज उसके रंगीले रसीले भावों की कटु-तिक्त-मधुर स्मृतियां मुझे विह्वल कर रही हैं. उसे, लड़कियों में उठना-बैठना अच्छा नहीं लगता था.

इसमें कोई संदेह नहीं कि काम, मन का मूल है किंतु प्रिया में वह काम शायद कुंठित होकर ही तीव्रतर हो उठा था. उसके लिए पुरुष का ही महत्त्व था, नारी का नहीं. एक तो उसके शरीर की गढ़न भी ऐसी थी कि लगता था कि खजुराहो की भित्ति की हो कोई मूर्ति जीवंत हो उठी है, उसके पृथुल नितंब, मांसल अंग-प्रत्यंग, वर्तुल वक्षःस्थल, तिर्यक दृष्टि, सब ही विलास एवं उद्दाम काम के प्रबल संकेत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देते थे—शायद यही कारण था कि छात्रमंडली उसके इर्द-गिर्द भौंरे-सी मंडराती रहती. लड़कियों में उसकी एकमात्र मित्र मैं ही थी. यद्यपि आश्रम की ही छात्रा, मेरी बड़ी बहन मुझे कई बार कठोर चेतावनी दे चुकी थीं—कि उस बेहया अहंकारी लड़की से मैं गज भर की दूरी ही बरतूं!

"खुद तो बदनाम है ही, तुझे भी ले डूबेगी, खबरदार जो मैंने तुझे उसके साथ घूमते-फिरते देखा!" किंतु मुझे हमेशा यही लगता था कि लोग उसे गलत समझते हैं, वह अहंकारी नहीं थी, वह तो उसका चेहरा ही विधाता ने ऐसा बनाया था कि उसकी सरल दृष्टि भी अहंकार दीप्त लगती. गणित में उसे स्वयं सरस्वती का वरदान प्राप्त था—कठिन से कठिन सवाल भी वह चुटकियों में हल कर देती, स्मरणशक्ति ऐसी अद्भुत थी कि एक बार किसी पाठ पर आंखें फेरती और दूसरे ही क्षण विराम-अर्द्धविराम सहित, पूरा पाठ दनादन उगल देती. उसका बंग्ला उच्चारण एकदम त्रुटिहीन था, साहित्य सभाओं में वह रवींद्रनाथ जीवनानंद दास, विष्णु दे की कविताओं की आवृत्ति करती तो लोग आश्चर्य से मंत्रमुग्ध हो, सांस रोके उसे देखते रहते.

"की मेये रे बाबा! एई तो बांगालीर थेके ओ बेशी बांगाली." (क्या लड़की है रे बाबा, यह तो बंगाली से भी अधिक बंगाली है). उसकी यही आश्रमव्यापी ख्याति, लड़कियों को जला-भुना देती. एक बार हॉस्टल की छात्राओं ने उसकी शिकायत कर दी कि वह आधी रात को कमरा बंद कर सिगरेट पीती है. मैं तो कांप गयी कि तलाशी लिये जाने पर मेरी वह दबंग सखी अब अवश्य ही पकड़ी जायेगी, क्योंकि मैं जानती थी कि सूटकेस में रेशमी साड़ियों की तहों के बीच, वह थल्ले के थल्ले सिगरेट के पैकेट छिपाकर रखती है! यह 1936 की बात है, आज शायद लड़कियों के छात्रावास में, उनके सूटकेस में चरस-गांजे के बीड़े भी पकड़े जाने पर उन्हें उदार जमाना मुक्त कर दे पर तब किसी छात्रा के सिगरेट पीने का संदेह भी उसके लिए चुल्लू भर पानी में डूब मरने वाली बात होती थी. मैंने उसे एक दिन टोका भी था, "छि: छि: प्रिया, तुम सिगरेट पीती हो?"

"क्यों, क्या बुराई है इसमें? स्त्रियां तंबाकू, जर्दा खा सकती है तो सिगरेट क्यों नहीं पी सकतीं भला? और फिर मुझे पकड़ने वाला आज तक पैदा नहीं हुआ—तू क्यों घबड़ाती है?"

सच, गजब की लड़की थी वह! जब बिना किसी पूर्व सूचना के एक दिन उसके दोनों सूटकेस जब्त कर लिये गये तो उसके चेहरे पर शिकन भी नहीं उभरी. सब लड़कियों की उपस्थिति में ही, जितनी ही बार उसकी एक-एक साड़ी झटकी जा रही थी, उतनी ही बार मेरा धड़कता कलेजा मुंह को आ रहा था किंतु, एक वह थी बंदी कि वहीं पर बैठी गहन आत्मविश्वास से मुस्कराती चली जा रही थी जैसे कह रही हो—क्यों, मिला कुछ? रात ही रात में क्या सब पैकेट फूंक डाले थे छोकरी ने?

मैंने बाहर निकलते ही एकांत में उससे पूछा, "कहां गये सब पैकेट?"

"सब पी गयी हूं! मेरी तलाशी लेने चले थे, बड़े-बड़े डूब गये, गदहा पूछे कित्ता पानी!"

इसी बीच पिता की बीमारी का तार पा मैं बंगलौर गयी, लौटी तो पता लगा प्रिया अचानक आश्रम छोड़कर चली गयी है. वह कहां गयी, क्यों गयी, किसी को कुछ पता नहीं था. लड़कियां मुझसे पूछतीं, "क्यों, तुम्हारी तो अंतरंग सखी थी—तुमसे भी कुछ नहीं कह गयी? किसी प्रेम का चक्कर था क्या?"

मैं क्या कहती, कुछ कहती भी तो क्या कोई विश्वास करता कि मुझसे कुछ कहे बिना ही वह चली गयी है, स्वयं मैंने उसे उसकी उस सनकी बेरुखी के लिए कभी क्षमा नहीं किया.

फिर वर्षों बाद, वह मुझे अचानक एक दिन स्टेशन पर मिल गयी. आश्रम छोड़े वर्षों बीत गये थे, मेरा विवाह हो चुका था, छात्र जीवन की स्मृतियां बहुत पीछे छूट चुकी थीं. ट्रेन आने में विलंब था. मैं रेलवे बुक स्टॉल पर खड़ी पत्रिकाएं उलट रही थी कि अचानक किसी ने मेरे कंधे पर हाथ रखा. मैं चौंककर मुड़ी तो वह मुझसे लिपट गयी, वह भी उसी ट्रेन से जा रही थी, फिर तो अपने वातानुकूलित डिब्बे में ही वह मुझे जबरन खींच ले गयी.

"तू चिंता मत कर, मेरे छोटे चाचा अब रेलवे बोर्ड के चेयरमैन हैं, सब मुझे जानते हैं. अभी मिनटों में तेरा टिकट कनवर्ट करवा लेंगे."

उस एकांत कक्ष में कितना कुछ कहने को था और कितना सुनने को! एक-एक कर कितनी ही रसभरी स्मृतियां, वर्षों से किसी जंग लगे बक्से में से निकल रही भव्य बनारसी साड़ियों की नेपथलीनी गंध से हमें विभोर कर गयीं.

"तू अचानक ऐसे चली क्यों गयी थी प्रिया?" मैंने पूछा.

"बहुत पुरानी बात हो गयी, छोड़ भी, बस मन उचट गया था हमारा, अब यह बता कि तेरी शादी कब हुई? क्या करते हैं तेरे पति?"

पर मैं तो उसके प्रश्न का उत्तर देना भूल, एकटक उसे ही देख रही

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

▣ शिवानी
जन्म : 17 अक्टूबर 1923, राजकोट, गुजरात में. प्रारंभिक शिक्षा शांतिनिकेतन में. कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्नातक. पहली कहानी बंगला में छपी. पर अब केवल हिंदी में ही लिखती हैं. कहानियों के अतिरिक्त उपन्यास और नाटक भी लिखती हैं. अब तक 38 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं. लेखन के लिए कई पुरस्कार भी ले चुकी हैं. संप्रति स्वतंत्र लेखन.

थी. वही प्रिया थी, वही रंग, वही रूप, वही कद-काठी किंतु कहां न जाने कुछ अटपटा लग रहा था, उसकी मायावी हंसी, उसका कंठ स्वर या उसकी कुटिल चितवन!

"चल पहले कुछ खा लिया जाये." उसने अपना ठाठदार नाश्तादान टोकरी से निकाला, स्वच्छ नैपकिन, कांटे-छुरी, चम्मच खनकते ही मेरी सुप्त क्षुधा भी जागृत हो गयी. क्या आला दस्तरख्वान सजा दिया था पट्ठी ने. इन मौलिक लटकों में तो वह हमेशा बेजोड़ थी.

"याद है ये मावे के पेड़े तुझे हॉस्टल में भी बेहद पसंद थे—अभी भी वह हलवाई जिंदा है और जैसे-जैसे बूढ़ा रहा है अभागा, वैसे-वैसे और उम्दा पेड़े बनाता जा रहा है. खाकर देख."

"तेरी शादी हो गयी, प्रिया?" पेड़ा मुंह में रखते ही, मेरे भीतर कहीं उफनती प्रच्छन्न जिज्ञासा जिह्वाग्र पर आ गयी. मैं मन ही मन सोच रही थी कि तब क्या इस सनकी लड़की की शादी नहीं हुई? यह तो अभी भी मुझे मायके की दूकान के ही पेड़े खिला रही है. मेरे प्रश्न को अनसुना कर वह फिर चहकने लगी, "यह ले एक पेड़ा और खा—है ना बढ़िया?"

मैं अपना कौतूहल रोक नहीं पा रही थी.

"तेरी शादी हो गयी प्रिया?" मैंने फिर पूछ दिया.

"हां," वह हंसी, "देखती नहीं यह कढ़ा हुआ सालू?" अपना फुलवरी दुपट्टा उसने मेरे सामने झंडी-सा फहरा दिया—पर यह तो प्रिया की चिरपरिचित उन्मुक्त हंसी नहीं थी.

तब, क्या वह अब तक कुंआरी ही थी या अकाल वैधव्य ने उसे ऐसी श्रीहीन बना दिया था, न कंठ में मंगलसूत्र था, न अंगुली में अंगूठी, न ललाट पर मद्रासी कंकु की उसकी वह बिंदी जिसके नीचे वह हमेशा एक नन्हा-सा काला गोल बिंदु संवार लिया करती थी. उसका वह मौलिक सज्जा प्रयोग फिर आश्रम में फैशन बनकर ही चल निकला था. जिसे देखो, ललाट पर दो-दो बिंदियां,

मेरा गंतव्य स्टेशन आने को ही था, मुझे तो दूसरे ही स्टेशन पर उतरना था पर वह कहां जा रही थी? "अपना पता नहीं देगी? कभी चिट्ठी तो लिख देना, मेरा पता भी लिख ले."

"अरे छोड़, जब मिलना होगा, ऐसे ही भगवान हमें मिला देगा—और एक बात बता दूं—संसार के अधिकांश पते झूठे होते हैं."

क्या सचमुच ही बौरा गयी थी लड़की या किसी पागलखाने से रोग मुक्त होकर लौट रही थी. ऐसी गहन मैत्री थी हमारी और न अपने पता देने का उत्साह न मेरा पता लेने की व्यग्रता.

"मैं अगले स्टेशन पर उतर जाऊंगी," मैंने कहा और साड़ी की भांज ठीक करने उठने लगी.

उसने मेरा हाथ पकड़कर बिठा लिया, "नाराज हो गयी? तब सुन, मेरा विवाह हो गया, तेरी ही तरह मेरी भी एक प्यारी-सी बच्ची है, सुदर्शन पति है, बड़ा-सा प्रासाद है, दो कार हैं, यहां तक कि मेरे लखपती व्यवसायी पति का अपना चार्टर्ड प्लेन भी है. पर मैं यह सब हमेशा के लिए छोड़कर भारत चली आयी हूं.

"क्या कहती हो प्रिया? क्या तुम्हारे पति. . ." मेरे अधूरे प्रश्न को उसने स्वयं पूरा कर दिया, "क्या मेरे पति बदचलन हैं, शराबी हैं? यही पूछना चाह रही है ना? वहीं विदेश में ही जन्मे, वहीं बस गये. किशोर पटवर्धन को कोई भी लत नहीं है, वह मुझे बेहद चाहता है—और मैंने ही उसे छोड़ा है, उसने नहीं."

ट्रेन की गति धीमी हो रही थी, दूर आसन्न बड़े स्टेशन की बत्तियां जुगनू-सी चमकने लगी थीं.

मैंने अधीर होकर उसे झकझोर दिया, "कैसी मूर्ख है तू—कहती है तेरे एक बच्ची भी है, वह बड़ी होगी, विवाह होगा, तब क्या उसे मां का अभाव नहीं खलेगा? फिर उसके निर्दोष पिता को तू अकारण ही छोड़कर चली आयी."

"अकारण नहीं," वह हंसी किंतु कैसी विचित्र हंसी थी वह! "बहुत कारण हैं, मैं उसके विवाह तक बनी रहती तो उसकी लज्जा उसके लिए घातक बन सकती थी."

स्टेशन आ गया था, मैं विदा लेकर उतर गयी. वह देर तक खिड़की से हाथ हिलाती रही और एक बार वह हिलता हाथ वर्षों के लिए किसी शून्य में विलीन हो गया.

ठीक दस वर्ष बाद वह फिर मिल गयी. आज कई बार सोचती हूं—न मिली होती तो शायद अच्छा ही होता.

नैनीताल जाड़ों में प्रायः ही मसान-घाट-सा वीरान हो जाता है. कहते हैं 25 दिसंबर को वहां अवश्य हिमपात होता है, मैं दस वर्षों तक वहां रही और कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि बड़े दिन पर बर्फ न गिरी हो, जब नहीं भी रही, तब भी उस ऐतिहासिक हिमपात का समाचार सुन लेती.

उस दिन भी 25 दिसंबर का हिमपात होकर, उदार क्षणिक धूप से गलकर पिघल रहा था. कई दिनों की अनवरत वर्षा के बाद, पहली बार निरभ्र आकाश चमका था, ताल लबालब छलक रहा था. नैनादेवी के मंदिर की क्षुद्र घंटियों के साथ, गिरजे के गुरु गंभीर घंटे की गर्जना पखावज की-सी युगल बंदी कर रही थी. ठंडी सड़क निःस्तब्ध सन्नाटे से घिरी एकाएक अंधेरी सुरंग-सी लग रही थी. न जाने किस सनक में मैं उस सन्नाटे में पाषाण देवी के दर्शन को निकल गयी थी. ताल की कगार पर खड़े विलोवृक्ष, मणिपुरी नर्तकियों की-सी अलस मादक लास्यपूर्ण मुद्रा में झूम रहे थे.

आकाश फिर धूसर मेघखंडों से घिरने लगा था, मैंने ठंडी बयार से सिहर, शॉल कसकर लबादे-सा लपेट लिया और चाल तेज कर दी—नैनीताल की वर्षा, बिना किसी पूर्व सूचना के आ गये अतिथि की भांति, कभी भी आकर सहमा देती है, कहीं ऐसा न हो कि तीव्र वर्षा का वेग मुझे बीच ही में दबोच ले और मैं अपने घर तक की कठिन चढ़ाई भी न चढ़ पाऊं. उन दिनों अवस्था भी ऐसी थी कि तेज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चल पाना भी मेरे लिए कठिन हो रहा था.

सहसा किसी ने मेरे कंधे को अपने मजबूत पंजे से जकड़ लिया. मैं घबड़ाकर खड़ी ही रह गयी. जन शून्य ठंडी सड़क पर दूर-दूर तक कोई नहीं था. कुछ ही दिन पूर्व, इसी ठंडी सड़क पर डिग्री कॉलेज की एक छात्रा की क्षतविक्षत लाश मिलने का समाचार, पूरे नैनीताल को स्तब्ध कर गया था.

उन दिनों का नैनीताल, आज का नैनीताल नहीं था, वहां तब हत्या तो दूर, सामान्य-सी चोरी या ताला तोड़ने की घटना ने भी कभी सरल नागरिकों को भयत्रस्त नहीं किया था. कुछ दिनों तक वहां की धर्मभीरु गृहणियों ने भी ठंडी सड़क पर जाना छोड़ दिया, पहले उस सड़क पर उन्हें केवल शेर, भालू का ही भय सहमाता था, पर अब तो मानव का ही भय उनके लिए नरभक्षी पशु बना जा रहा था.

"पहचाना नहीं?" इस बार कंधे से हाथ हटा वह दीर्घांगी छाया मेरे सम्मुख खड़ी हो गयी. "प्रिया!" से बाहों में भरने मेरे दोनों उत्साही हाथ, जैसे किसी ने सहसा अदृश्य खड्ग से काटकर धरा पर डाल दिये. यह कैसा विचित्र वेष था उसका, ढीला इकबर्रा पायजामा, रेशमी कुर्ता और खुले बटनों से झांकती लोमश छाती. अधरों पर जर्दे पान की लाली, सहसा उसकी आंखों में लाल डोरे बनकर उतर आयी. कहां गयी वह लंबी वेणी, वह वर्त्तुल वक्ष, वह दुहरी बिंदी?

मेरे सम्मुख प्रिया का ही अविकृत नक्शा था, वही कद, वही काठी, किंतु नहीं---वह प्रिया नहीं थी.

तब क्या वह उसका जुड़वां भाई था? पर प्रिया तो अकेली ही थी, न भाई, न बहन. चाचा निःसंतान थे, मामा थे ही नहीं और मौसी कुंआरी थी.

"कौन हो तुम?"

वह बड़ी बेहयाई से हंसा, "क्यों भाई, अभी तुम्हीं ने तो प्रिया कहकर पुकारा था ना. अब पूछती हो मैं कौन हूं?"

"नहीं, तुम प्रिया नहीं हो!" मैं जाने को उद्यत हुई.

"रुको," उसने कहा और इससे पहले कि मैं दामन बचाकर छिटकती, उसने दोनों हाथ फैलाकर, मेरा मार्ग अवरुद्ध कर दिया.

"तुमने ठीक ही पहचाना, मैं प्रिया ही हूं."

"क्या बक रहे हो, छोड़ो मेरा रास्ता."

"नहीं," फिर वह हमारी मैत्री के न जाने कितने प्रकरण, एक ही सांस में सुना गया---याद है, जब तू और मैं एक्सकर्शन दल को घिस्सा दे, कचौड़ीगली में कचौड़ी खाने सटक गये थे, और इक्के में लौट, राजघाट के पिछवाड़े के रास्ते, चुपचाप आकर अपने-अपने बिस्तर में घुस गये थे? याद है, जब तुझे मैंने चुटकियों में उनचासवां थियोरम याद करवा दिया था जो तुझे याद ही नहीं होता था? याद है, जब प्रभात मुखर्जी ने अपनी क्लास में हम दोनों को कक्षा में बात करने पर पीरियड भर खड़ी रखा था? याद है, तुझे रात नींद में चलने की आदत थी और हम दोनों एक दूसरे की चोटियां बांध लेते थे कि तू चलने लगे तो मैं जग जाऊं? तू हमेशा मेरे पास आकर सो जाती थी---याद है. . ."

"बस चुप करो. . ." कह तो दिया पर मैं उसे स्तब्ध खड़ी देखती रह गयी. कौन था यह अद्भुत सिद्ध जो मेरी और प्रिया की मैत्री के इन संस्मरणों की अभिज्ञता से मुझे सहमा रहा था. कहीं ऐसा तो नहीं कि प्रिया मर-खप गयी हो और यह उसका दुष्ट प्रेत हो!

"अभी भी तू नींद में चलती है क्या? पर सुन. . ."उसने बड़े स्नेह से मेरा हाथ थाम लिया, "अब तू डरकर मेरे बिस्तर में घुस भी आयी तो मैं तेरी चोटी अपनी चोटी से नहीं बांध पाऊंगी, देख ना इधर," वह अपने कटे केश पर हाथ फेर बड़ी दुष्टता से मुस्कराया.

मेरा चेहरा लाल पड़ गया.

सहसा मेरे गर्भस्थ शिशु की धड़कनें मेरी धड़कनों से मिलकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर परिग्रह-पापी

रावी

एक व्यापारी सेठजी अपने कारोबार में घाटा दिखाकर, दिवाला निकालकर बहुत धनवान बन गये. लोकसेवा और कुछ दान-पुण्य करके उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा भी समाज में बढ़ा ली.

नियमानुसार मृत्यु के बारह वर्ष पूर्व धर्मराज की भूलोक स्थित न्यायालय शाखा में उनकी पेशी हुई. शाखा न्यायालय ने उनकी आधी संपत्ति जब्त कराकर उन्हें आदेश दिया कि अगले बारह वर्ष के भीतर वे अपनी संपूर्ण संपत्ति लोक-सेवा में खर्च कर दें.

मृत्यु के पश्चात् नरक और स्वर्ग के बीच स्थित धर्मराज के न्यायालय में उनकी दूसरी पेशी हुई, तब उनकी संपत्ति पुनः जब्ती के पूर्व जितनी हो गयी थी. सेठजी ने अपने एक निर्धन किंतु बुद्धिमान लोकसेवी मित्र के नाम की गयी अपनी वसीयत प्रस्तुत की, जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनके भाग की शेष संपूर्ण संपत्ति उक्त मित्र के निर्णयानुसार उनकी मृत्यु के तेरहवें दिन से लेकर तिरसठवें दिन के बीच लोकसेवा के कार्यों में खर्च कर दी जाये.

धर्मराज ने 73 दिन 'दुर्गंधवाही नामक' नरक खंड में उनके सुविधापूर्वक निवास, तदुतरांत भुवलोक के सुखजीवी चतुर्थ मध्य खंड में स्थानांतरण का आदेश देते हुए, न्यायालय के अपने कनिष्ठ न्यायपालकों को लक्ष्य कर कहा, "यह व्यक्ति लोक-शोषक होने के साथ-साथ चतुर और न्याय-भीरु भी है. अपनी संपत्ति यदि वह जीते-जी विसर्जित कर देता तो दुष्कर्म तथा उसके शमन के नाते वह नरक का केवल तेरह दिन का अपूर्ण अनुभव प्राप्त कर भुवलोक का वास प्राप्त कर लेता और नरक के पूर्ण अनुभव के लिए उसे पुनः कभी किसी जन्मांत में नरक-वास लेना पड़ता. उसकी कामना और आशा, कि उसे अपने जन्म-मरण के शेष संपूर्ण चक्र के किसी भी जन्मांत में नरक-वास न लेना पड़े—सावधान रहने पर अब किंचित् सुगमतापूर्वक पूरी हो सकती है."

इस कथा के ऐसे परिग्रह-भोगी किंतु चतुर संपत्तिवान पाठकों को यदि तलाश हो तो अपने निर्धन बुद्धिमान लोकसेवी मित्रों में एक नाम मेरा भी लिख रख सकते हैं. □

● नयानगर, पो. कैलाश, आगरा-282007

धड़क उठीं—धक, धक!

अंधेरा और घनीभूत हो गया. कुहरा धीरे-धीरे ताल के ऊपर शामियाने-सा टंग गया था. मंदिर की आरती की गूंज कभी धीमी और कभी प्रखर होकर अयांरपाटा के पहाड़ों से टकरा रही थी.

'सुर-मुनि-मोहिनी सौम्या तू शोभाऽऽ धारा-
विवसन विकट स्वरूपा, प्रलयमयी धारा-
जग जननी जय-जय मां,
जग जननी जय-जय!'

"तूने उस दिन ट्रेन में पूछा था ना मैंने क्यों घर-बार छोड़ा? तो सुन, नीला के जन्म के बाद ही मेरा शरीर मेरे लिए पहेली बनने लगा. मेरे कंधे स्वयमेव चौड़े हो गये, मेरी अंगुलियां मोटी होती चली गयीं, मेरे पंजों में लोहे की जकड़न आ गयी, मेरी आवाज भारी होने लगी और मेरा दर्पण ही मुझे छलने लगा. पहले मुझे पुरुषों का साहचर्य प्रिय लगता था. अब किसी भी सुंदरी युवती या किशोरी को देख मैं पागल हो उठती. पति स्पर्श भी मुझे असह्य लगने लगा. बेचारा किशोर आश्चर्य से मुझे देखता. एक दिन उसने कहा, 'क्या हो गया है तुम्हें प्रिया? क्या तुम मुझसे नाराज हो?'

"मैं उससे कैसे कहती कि किशोर, मैं अब प्रिया नहीं रही—धीरे-धीरे अप्रिय बन रही हूं.

"फिर एक दिन मैं साहस कर एक अज्ञात चिकित्सक के पास गयी, अपने पी.पी. के पास जाती तो एक न एक दिन किशोर जान लेता. रुपया मेरे लिए हाथ का मैल था, मैं किसी भी विशेषज्ञ की ऊंची से ऊंची फीस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दे सकती थी.

"डॉक्टर ने मेरे संदेह की पुष्टि की, मैं धीरे-धीरे नारी का चोला छोड़ रही थी, एक सामान्य-सा ऑपरेशन ही मुझे पुरुष बना देगा, किंतु मेरा पौरुष क्या मेरा ही सर्वनाश नहीं कर देगा, मेरी निर्दोष बच्ची, मेरा देवतुल्य पति? वे क्या मेरे पौरुष को स्वीकार कर पायेंगे? क्या स्वयं मेरी लज्जा उनकी भी लज्जा नहीं बन जायेगी?

"सौभाग्य से उन्हीं दिनों किशोर अपने व्यवसाय के सिलसिले में नाईजीरिया जा रहा था, उन दिनों वैसे भी हममें बोल-चाल लगभग बंद ही थी. मैंने अपना बेडरूम अलग कर लिया था. और उस बे-बात की सजा को बेचारा किशोर झेल नहीं पा रहा था.

"उसका मेरा जॉइंट एकाउंट था, उसी में से पर्याप्त धनराशि निकाल मैं नीता को अपनी एक मित्र के यहां यह कहकर छोड़ आयी कि मैं अपनी बीमार मां को देखने भारत जा रही हूं. लौटते ही किशोर समझ गया होगा कि मैं अब कभी लौटूंगी नहीं क्योंकि मेरी मां तो मेरे विवाह से पहले ही गुजर चुकी थी. फिर उस अज्ञात विशेषज्ञ के अज्ञात क्लिनिक में, मैं स्वयं ही प्रिया का पिंडदान कर आयी. वहां से सीधी भारत. . .

"मुझे अपने घर चलने को नहीं कहोगी?" उसका मर्राया कंठस्वर मुझे भय से कंपा गया, इस सखी का यही आह्वान सुन शायद मैं उसे कभी हाथ पकड़कर घर खींच लाती, पर उस दिन उसका वह अनुरोध सुन मैं सिहर उठी. मैं बिना कुछ कहे तेजी से बढ़ने लगी कि उसने मुझे बांहों में भींच लिया.

मैं नहीं जानती उस दिन किस दैवी शक्ति ने मेरे अंग-प्रत्यंग में वह स्फूर्ति, वह साहस भर दिया—मैंने एक झटके से उस लौह बाहुपाश से अपने को छुड़ा उसे एक धक्का दिया. वह उस आकस्मिक आघात के लिए शायद प्रस्तुत नहीं था. कटे पेड़-सा वह नीचे गिरा और मैं हवा के वेग से भागी. कभी कॉलेज की रिले रेस में, मैं एक कदम आगे बढ़ा, अपनी इसी सखी की प्रलंब भुजा की प्रतीक्षा में खड़ी सहसा ऐसे ही भागने लगती थी. नहीं जानती अपनी उस अवस्था में भी मैं उस दिन कैसे तेजी से भाग पायी.

मैं घर पहुंची तो मेरे चिंतातुर पति, हाथ में टॉर्च लिये मुझे ढूंढने ही निकल रहे थे.

"कहां रह गयी थीं तुम? इतनी बार समझाया है इस कब्रिस्तान की पगडंडी से मत आया करो, फिर वहीं से आ रही हो. रात भर अब डरती रहोगी."

मैं प्रायः ही उस पगडंडी से आती थी और कभी-कभी रात को उन्हीं कब्रों के सपने देख बुरी तरह चीख पड़ती थी. दिन में जिस कब्रिस्तान में बैठना मुझे अच्छा लगता था, रात को वही भयावह लगने लगता, 1855 की उन कब्रों पर खुदे कई नाम मुझे कंठस्थ हो गये थे. अधिकांश कब्रों पर संगमरमरी पत्थर की बनी फरिश्तों की खंडित मूर्तियों के साये में मैंने न जाने कितनी कहानियां लिखीं, किंतु उस दिन जिस अनूठे कथानक को मुट्ठी में बांध, मैं उसी कब्रिस्तान की पगडंडी के आदार्य से चटपट घर पहुंची, उसे क्या आज तक लिपिबद्ध कर पायी? वह कथानक केवल मेरे और मेरे पति तक ही––सीमित पुष्प-सा बिखरकर धरा में मिल जाता. पर दो वर्ष पूर्व, लंदन के ऑबजर्वर में मैं मृत्यु सूचनाएं पढ़ रही थी. पूरा अखबार चाटकर जब कुछ भी पढ़ने को नहीं रह जाता तो मैं इसी स्तंभ की जुगाली करती थी. अनचीन्हें उन मृत्यु पथ के यायावरों के नाम अव्याधि, जन्म, मृत्यु के अंतराल से उनकी वयस का शरसंधान मुझे बड़ा अच्छा लगता, कभी दुख होता कि हाय ऐसी अकाल मृत्यु हुई, कभी दीर्घ जीवन की अवधि देख आश्चर्य होता. साथ में रहता उनकी संतान, पत्नी, जनक-जननी का नाम और कभी कोई सुंदर-सी कविता उसी में वह नाम अचानक दिख गया था,

'मिस्टर प्रिय दामले,

मृत्यु, धैर्य से भोगी गयी लंग कैंसर की दीर्घ व्याधि से––जन्म : 17 नवंबर, 1921; मृत्यु : 5 अप्रैल, 1983,

'दयालु परम पिता की बांहों में

दाई विल बी डन.'

मार्ग्रेट दामले के परमप्रिय पति

टोनी और नेली के स्नेहशील पिता

कृपया फ्यूनरल में पुष्प न लायें, चैरिटी चेक इस पते पर भेजें— कैंसर सोसायटी का नाम पता देकर, उस चर्च का भी पता, समय दिया गया था जहां सर्विस होगी. ट्यूब स्टेशन मेरे घर के पास ही था, चाहती तो बड़े आराम से जा सकती थी. न्यूकासल था ही कितनी दूर! निश्चय ही वह प्रिया ही थी. उस जन्मतिथि को मैं कैसे भूल सकती थी, जिस तिथि को मैंने वर्षों तक उसे उपहार भेजे थे—

पर जाकर करती भी क्या—वहां पहुंचकर क्या मैं मार्ग्रेट दामले से कह पाती कि उसका परम प्रिय पति कभी किसी की उतनी ही प्राणप्रिया पत्नी थी? क्या टोनी-नेली से कह पाती कि उनका स्नेही पिता किसी की उतनी ही स्नेहशीला जननी भी थी?

विधाता ने उससे निकृष्ट कोटि का परिहास किया था, अब वह स्वयं वहीं जाकर उससे निबटेगी.

प्रिया ने क्या आज तक कभी किसी से हार मानी थी? □

● 66, गुलिस्तां, लखनऊ (उ.प्र.)

बुद्धिमती

––रावी

उसके पिता के एक मित्र ने एक सज्जन से उसके विवाह का प्रस्ताव रखा.

पहली बार उसने उन्हें देखा, उनके घर की खिड़की से झांककर––नंगे बदन, केवल एक तहमद पहने, कुछ बेडौल खुरदरा-सा शरीर. घर आकर उसने पिता से कह दिया कि उसे यह विवाह स्वीकार नहीं है.

अगले दिन वे सज्जन बहुत बढ़िया कीमती सूट पहन, सजधजकर अपनी इंपाला कार में उसके घर आये. वह उन पर मोहित हो गयी और विवाह की स्वीकृति दे दी!

उसकी इस नयी पसंद पर इस कथा की पाठिकाओं की कोई टिप्पणी हो तो अपने शहर के फोन नंबर––एक्स टू टू फाइव सेविन फोर एट पर उसे कह सकती हैं. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षात्कार

'निर्गुण' जी के साथ कमल गुप्त और पुष्पा अवस्थी की बातचीत

दूसरों को जिंदा रखने का प्रयत्न करना भी चरित्र है।

– निर्गुण

हिंदी कथा साहित्य की पिछली पीढ़ी के कहानीकारों में मानवीय भाव से संपृक्त प्रभावी लेखन के लिए श्री द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' का नाम उल्लेख्य है. उनकी गणना हिंदी के उन कथाकारों की अगली कतार में की जाती है जो बंगला कथाकार शरतचंद्र से प्रभावित रहे हैं. 'निर्गुण' जी ने हिंदी कहानी को जो मार्मिक स्पर्श, भावमयता और रसमयता दी है, उसकी अपनी अलग पहचान है. नारी की सुकोमल भावनाओं, व्यथाओं और अंतर्मन की अव्यक्त गाथाओं की अत्यंत मार्मिक अभिव्यक्ति 'निर्गुण' जी की लेखनी की निजी विशेषता है. अपने जमाने में 'निर्गुण' जी ने अपनी लेखनी की इस तस्वीर के कारण ही पाठकों के दिल में मधुर कोना बनाया. भले ही आलोचक अपनी तैश में उन्हें 'आंसू निचोड़' कहानियों का लेखक घोषित किया करें.

'निर्गुण' जी के व्यक्तित्व की सादगी और सरलता तरलता के साथ उनकी कहानियों में बहती है. पिछले दिनों उनसे मुलाकात की तो बीतों दिनों की यादों के साथ अनेक दशकों की महत्वपूर्ण साहित्यिक यात्राओं का आनंद मिला. ये बातें उनकी जिंदगी और उनके जमाने की बूझी-अनबूझी गांठें खोलती हैं—आकर्षक दृश्य फलक की तरह. . .

इस साक्षात्कार के बाद हम दे रहे हैं 'निर्गुण' जी की नवीनतम कहानी.

निर्गुण जी, बात यहीं से शुरू करें कि अपने लेखन में से कौन-सी कहानियां आपको सर्वाधिक प्रिय हैं?

यह तो थोड़ा मुश्किल ही प्रश्न है. यह कुछ ऐसा ही जैसे कोई पूछे कि अपनी औलाद में कौन-सी. . .

औलाद में तो लायक और नालायक दोनों होते हैं?

लेकिन पिता को तो सभी प्यारे होते हैं.

निर्गुण जी, पूछने का मतलब यह है कि आपने इतनी कहानियां लिखी हैं नारी पात्रों को लेकर. अभी आप नारी विषयक कहानियों को लेकर एक संग्रह निकालने की चर्चा कर रहे थे. तो उस संग्रह में वह कौन-सी कहानियां हैं जो आपको प्रिय हैं?

मेरी इच्छा है और वह प्रकाशक भी तैयार हो रहा है कि एक ऐसा संग्रह निकाला जाये जिसमें नारी पात्रों की ही कहानियां हों. उस संग्रह में पचीस-छब्बीस कहानियां हैं.

उनमें से कुछ के नाम से एक बार फिर परिचित होना चाहती हूं?

अब जैसे 'लाजवंती बेटी', 'हारूंगी नहीं,' 'माधवी.'

'माधवी' कहां छपी थी?

'कहानीकार' में. 1968 के आसपास. 'माधवी' कहानी में नारी का बिलकुल अद्भुत चरित्र अंकित किया है हमने.

अद्भुत से [illegible] क्या मतलब है?

नारी में [illegible] है और वह [illegible] बहुत [illegible] है.

निर्गुण जी, [illegible] शुरू किया अपनी?

देखिए, सबसे पहले मैंने जब लिखने का प्रयत्न किया था तब मैं दस वर्ष का था. . . वह कहानी तैयार न हो सकी. लेकिन जब मैं 13 वर्ष का था तो वह कहानी मैंने लिख दी थी. . . फिर वह छप भी गयी. .. कहानी का नाम था 'अभागी'. सन् 29 में लिखी थी और 31 में प्रकाशित हुई थी.

जिस समय आपने कहानी लिखना शुरू किया था उस समय संवेदना के धरातल पर आपकी मानसिकता क्या थी?

वह सबसे पहली कहानी 'करुण रस' पर आधारित थी. अंतिम कहानी भी शायद करुण रस की ही हो. . .

निर्गुण जी, वह तो सही है कि आपका सारा लेखन और लेखन की यात्रा एक विशिष्ट संवेदना से जुड़ी रही है. इसके पीछे कोई खास घटना जरूर होगी.

सबसे पहले तो मेरी मां . . . सबसे बड़ा, सबसे पहले संबंध मां से होता है. मेरी मां ने बहुत कष्ट उठाये पर उसने जबान खोलकर शिकायत नहीं की. . . मां का दुख मेरे हृदय में बैठ गया. सबसे बड़ा कारण यही है. . और उसके आगे फिर जिंदगी बंध गयी, एक हमउम्र से. . .

बड़ा निजी प्रसंग है लेकिन वह जरूर आपके लेखन से समष्टि का प्रसंग हो गया है इसलिए उस अंतर्मन की अंतर्कथा और [illegible] तक हम जरूर पहुंचना चाहेंगे . . . ?

[illegible] तो मेरे प्राण बंध गये एक जगह. . . मेरे [illegible] हो गया बहुत छोटी उम्र में. [illegible] होता है उस छोटी उम्र का . . .

वह तेरह-चौदह वर्ष की रही होगी. अमूमन जैसा हो जाता है, वह फिर आगे नहीं चल सका और मैं बिछुड़ गया.

बिछुड़ने का कारण कोई सामाजिक था?

हां, वह अमीरी-गरीबी. मेरे पिता ने स्वीकार नहीं किया. ऐसा ही कुछ गंभीर मामला था. वह अभी जीवित है. . . , आपको आश्चर्य होगा. कि मेरी मुलाकात एक बार उससे पैंतीस वर्ष बाद हुई.

बीच में कोई पत्र व्यवहार नहीं हुआ?

वह हो ही नहीं सकता था. . . देखिए, उसने मुझे एक जमाने तक प्रभावित किया. . . उसके बिछुड़ने का दर्द है. . . उसका कारण है. . . मैं बिलकुल आत्मश्लाघा नहीं कर रहा हूं. . . मैं दूसरे का दुख बिलकुल देख नहीं पाता हूं. दूसरे का दुख देखकर मेरे प्राण बहुत छटपटाने लगते हैं. . . दुनिया में चारों तरफ कष्ट ही कष्ट है.

इन सबका इलाज देखिए . . . मानवता . . . भाई-चारा . . . सहयोग है?

हां, कभी लगता है. . . . मैं क्या करूं. . . मेरी अनुभूतियां इतनी विचित्र हैं. . . मैं एकदम बन नहीं रहा हूं. मैं देखता हूं, एक आदमी एक छोटा-सा खोमचा लेकर बैठता है. आप ही बताइये कितना कमा लेगा? कभी-कभी सोचता हूं, मैं ही इसका पूरा खोमचा खरीद लूं. लेकिन इसके बाद सोचता हूं. . . मैं क्या करूंगा खोमचा लेकर और उसके बाद क्या करेगा यह खोमचे वाला? इतनी बातें हैं कमल जी, सबसे बड़ा कष्ट यह है कि लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे समझते नहीं हैं, मैं क्या कहूं. . . .

मैं ऐसे ही सवालों और जिज्ञासाओं के निमित्त आपसे बातचीत कर रहा हूं?

देखिए, बंगाल में अकाल पड़ गया था और इधर मेरा खाना बंद हो गया था. मैं खाने बैठूं तो लगता जैसे मेरा खाना लाशों पर रखा है. मैं बिलकुल सच कह रहा हूं. . . विवश होकर मैंने भाई को चिट्ठी लिखी कि. . . मुझसे खाना नहीं खाया जा रहा है. . . मैं क्या करूं?

आप धन्य हैं निर्गुण जी, इस गुण को आपने निर्गुण कैसे कह दिया. मैं तो समझता हूं इस गुण, इस संवेदना को आज का रचनाकार अपने लेखन में उतार ले तो आज के समाज के आधे दर्द का इलाज हो सकता है. यह तो अच्छा हुआ कि हमने आपके उस मन को कुरेद दिया जिसके भीतर दबी हुई गहराई में बैठी हुई वह बातें निकल आयीं. लेकिन अब मैं जानकर यह पूछना चाहूंगा कि आज के इस हिंदी लेखन को आप और क्या देना चाहेंगे संदेश के रूप में. एक विचार के रूप में . . .

रचनाएं जो आज लिखी जा रही हैं उनमें स्वच्छता बहुत जरूरी है. और यह स्वच्छता, मन की बहुत जरूरी है. आदमी का मन गंदा हो गया है, यह गंदगी किसी तरह से हटनी चाहिए. जिस तरह से हो सके गंदगी हटाये जाने के हर संभव उपाय करने चाहिए. लेखक को चारित्रिक पतन से बचाया जाये. लेखक को स्वयं इससे उबरना चाहिए. यह कैसे होगा, देखिए, यह तो मैं नहीं बतला सकता, क्योंकि मेरा दृष्टिकोण यह है कि इससे व्यक्तिगत स्तर की बात आ जाती है. मैं अपने को उबार लूं. मैं कोई गलती खुद न करूं. मैं इतना कर सकता हूं और हर लेखक इतना ही कर सकता. अब देखिए, आप हमारे मित्र हैं, मैं आपको तो नहीं संभाल सकता. बदल सकता. पर खुद को संभाल सकता हूं, गलत रास्ते पर जाने से खुद को रोक सकता हूं. हम अपने चरित्र को सुधारे रहें. और इसका मतलब रिफ्लेक्शन साहित्य में जरूर होगा.

निर्गुण जी, गलत और सही को परिभाषित करना फिलहाल बड़ा कठिन है. 'चरित्र' बड़ा वेग शब्द है. . हमेशा इस्तेमाल कर लिया जाता है. चरित्र बड़ा ही अपरिभाषित शब्द है जिससे अनेक तरह की व्यंजनाएं निकलती हैं. आप निश्चित रूप से चरित्र को किस अर्थ में आज के लेखन में स्थापित करना चाहेंगे?

आपने बड़ा अच्छा सवाल किया है. चरित्र का अर्थ सिर्फ वही नहीं है जो लोग लगाते हैं. वह बहुत सीमित है और एक कतरा है. चरित्र एक पूरी दिनचर्या और व्यक्तित्व है. सुबह उठने से लेकर रात सोने तक की सारी दिनचर्या चरित्र से संबंधित है. . . कैसे हम जीते हैं, निकट के संपर्कों में आपसी रिश्तों को. . ?

जीते ही हैं सिर्फ या दूसरों को जिंदा भी रखते हैं.

हां, दूसरों को जिंदा रखने का प्रयत्न करना चरित्र है, ऋग्वेद का एक मंत्र है, ऋषि ने कहा है कि रात को सोते समय यह याद करना चाहिए, सारे दिन तुमने क्या अच्छा काम किया. तुमने किसी को क्या दिया. किसको देने की प्रेरणा दी. कितना सुंदर कथन है. . . अगर व्यक्ति की दिनचर्या में यह आ जाता है तो उसका चरित्र बन जाता है.

वही, दूसरे के लिए जीने का संकल्प. हर दूसरे के लिए जीने वाला. दूसरा उसके लिए भी तो जीता है, यह एक तरह से सामाजिक आदान-प्रदान हुआ. आपका सोचना बहुत सही है. लेकिन आज के इस माहौल में. . . जहां राजनीति ने हर रिश्तों के ऊपर एक कफन फेंक दिया है. वहां राजनीति से इन मूल्यों को बचाने के लिए क्या सुझाव देना चाहेंगे?

मैं सुझाव क्या दे सकता हूं, क्योंकि मैं सुझावक नहीं हूं, लेकिन मेरा ऐसा विश्वास है कि स्थिति बदलेगी. . .

इस ओर क्या आप यह सोचते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा से हालात सुधरेंगे या गांधीवादी विचारधारा से, आप किस विचारधारा से उम्मीद रखते हैं?

आंशिक रूप से मैं मार्क्स विचारधारा को स्वीकार करता हूं. . . आंशिक रूप से. ज्यादा से ज्यादा सुधार गांधीवादी विचारधारा से होगा.

आपने मार्क्स के संदर्भ में आंशिक शब्द का इस्तेमाल किया. आंशिक से आप क्या समझते हैं.

ऐसा है कि रूस की जो वर्तमान स्थिति है या कम्युनिस्ट देशों की स्थिति है, वह हमारे देश में सोलह आना, सोलह आना शब्द पर ध्यान दीजिएगा, वह माकूल नहीं होगी. यहां की स्थिति इतनी वैसी नहीं है, कि असल में हमारे देश का एक अपना इतिहास है. अपनी उसकी सत्ता अलग है. और यह कोई कोई जरूरी नहीं कि जो चीन या रूस के लिए लाभदायक है, वह हमारे लिए भी लाभदायक हो या न हो. हमने इसी दृष्टि से कहा. लेकिन जो सैद्धांतिक दृष्टिकोण है, वह सोलह आना कम्युनिज्म का स्थान यहां के लिए सूटेबुल न हो पायेगा. और गांधीवादी विचारधारा से तो हम जुड़े ही हैं. केवल उसे उभारना है.

गांधी की विचारधारा को इस देश ने कुबूल नहीं किया. . . न गांधी को अपनाया और न गांधी की विचारधारा को. ऐसी स्थिति में आप क्या नहीं सोचते कि दलित . . . शोषित . . . उपेक्षित व्यक्ति के उद्धार के लिए अंतिम रूप से मार्क्सवादी विचारधारा स्वीकार नहीं करनी पड़ेगी?

देखिए, हिंदुस्तान गांव में ज्यादा है, शहर में कम है. आप जो बात कर रहे हैं वह शहर की बात है.

किसान गांव में है और मजदूर शहरों में है साथ ही मजदूरों का एक तबका गांव में भी है. जमींदारों के द्वारा खेतिहर रूप में आज भी पीड़ित और शोषित हैं. मैं सोचता हूं अगर गांधी की विचारधारा सफल हो जाती तो देश का नक्शा कुछ दूसरा ही होता. लेकिन आपकी यह गांधी की विचारधारा की पक्षधरता को अगर स्वीकार लिया जाये तो ऐसी सूरत में प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ से जुड़े तमाम रचनाकारों के ऊपर बहुत भारी पड़ेगा.

यह बात राजनीतिक है और मैं राजनीति से बहुत घबराता हूं. मैं तो एक ही बात जानता हूं, जो अपना है वह अपना है, जो पराया है वह पराया है.

गांधी इस जमीन की खुशबू है, यह भी एक सच्चाई है. गांधी से ही हम इस जमीन की गंध से परिचित होकर राष्ट्र की पहचान बना सकते हैं, आपका यही मतलब है न, निर्गुण जी, लेकिन यही चिंतन. . . अंतिम नहीं है. इसके आगे बहुत कुछ है. . और बातें शेष . . . हैं जिनसे आप सहमत न हों. . . फिलहाल बहुत कुछ बचा है. . .

हां, निश्चित ही मेरी बात अंतिम नहीं है और बहुत कुछ शेष है. . . अब आप लोग उस पर सोचिए. . .

यद्यपि औपचारिकता ही है पर हम आभारी हैं निर्गुण जी, आपने अपने कथनों के द्वारा एक पूरा लंबा इतिहास हमारे सामने रखा. अपने जमाने की बातें कीं. और आगे आनेवाले हिंदी कथा साहित्य को समर्थ निर्देश भी दिया.

फर्श पर बिछी दरी पर बैठकर जैसे कोई चित्रकारी करे. निर्गुण जी, वैसे ही तरह-तरह की यादों के रंग-भरते रहे और हम दोनों उन चित्र चित्रों को तरतीब देते रहे—शब्दों में, सवालों में. हम लोगों के बीच की यह बातचीत सिर्फ बातचीत न थी बल्कि उनके लेखन और समकालीन साहित्यिक स्थिति के बीच एक अंतर्यात्रा थी. यह हम सबकी खुशी के लिए कम नहीं है. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असत्य

द्विजेंद्र नाथ मिश्र 'निर्गुण'

कभी-कभी ऐसा क्यों हो जाता है कि हमें असत्य से प्यार हो जाता है और उसी को हम अपने जीवन का सर्वस्व मान बैठते हैं? सत्य और असत्य के बीच द्वंद्व में कभी-कभी असत्य की भी विजय होती है और उसी असत्य को हम श्रेय मानकर स्वीकार कर लेते हैं. प्रस्तुत है ऐसे ही एक द्वंद्व की दास्तान हिंदी में प्रेम कथाओं के पहले विशिष्ट कथाकार की कलम से...

अपने ड्राइंग रूम में अकेला बैठा, मेरा बाल्य-बंधु उमाकांत सुनाने लगा :

हम लोग शाम को टहलकर लौट रहे थे. सहसा दूर से बहती आती, हल्की-हल्की, मधुर वंशी-ध्वनि सुन पड़ी. फिर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये, वह स्वर-लहरी स्पष्ट से स्पष्टतर होती गयी. मेरी पत्नी अन्नपूर्णा ने अचरज करके पूछा, "कौन बजा रहा है बांसुरी? बड़ी मीठी आवाज है!"

हम लोग और आगे बढ़े और हमने देखा—सड़क के किनारे, ईंटों की छोटी-सी दुपुलिया पर बैठा कोई युवा संन्यासी आंखें मूंदे अपनी बांसुरी पर बहुत ही मधुर 'लहरा' बजा रहा है और उसके पास दो कुत्ते, ऊपर मुंह किये, चुपचाप खड़े हैं. —बड़ा अजीब लगा. हम लोग घड़ी भर वहां रुके. पत्नी अपलक संन्यासी को ताकती रही. तब मैंने उसे बांह पकड़कर खींचा —"चलो." हम लोग आगे बढ़ चले तो वह वंशी-ध्वनि बहुत दूर तक हमारा पीछा करती रही...

युवा संन्यासी की बांसुरी फिर हमने कई बार सुनी—एक दिन नदी किनारे घाट पर, एक दिन पुल के ऊपर कोने में, एक दिन नदी के उस पार और फिर एक दिन मंदिर के प्रांगण में. और हमेशा ही शाम के झुटपुटे में, सूरज डूबने के बाद—दिया जलने से पहले—हर बार मेरी पत्नी अभिभूत होती रही. हर बार मैं उसे बांह पकड़कर खींचता रहा—"चलो." और हर बार वह उसांस लेकर पूछती रही—"कौन है यह?"

हमारे पिछवाड़े ही एक छोटा-सा पार्क था, जहां एक किनारे पर माली की कोठरी थी, जो पार्क की देखभाल करता, फूलों के पौधे पानी से सींचता रहता.

अचानक ही एक शाम को, जब हम दोनों बैठे गपशप कर रहे थे—पिछवाड़े के उस पार्क में संन्यासी की वंशी गूंज उठी.

पत्नी ने मानो अकुलाकर कहा, "सुनिए, बांसुरी बज रही है." पल भर वह रुकी फिर क्षिप्रगति से उठकर भागी. पिछवाड़े की खिड़की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोलकर खड़ी हो गयी—जहां सामने से ही वह वंशी-ध्वनि बहती चली आ रही थी.

फिर यह रोज-रोज होने लगा—यही, शाम डूबे, संन्यासी का पार्क में मौलसिरी के पेड़ के नीचे बैठकर बांसुरी बजाना और पत्नी का खिड़की खोलकर स्तब्धभाव से वंशी-ध्वनि सुनना. मुझे थोड़ा अटपटा जरूर लगा, पर मैंने ज्यादा ध्यान न दिया. मेरी पत्नी ने पिछले महीने चार-पांच गमलों में फूलों के पौधे लगा लिये थे. वे पौधे धीरे-धीरे सूखने लगे तो पत्नी दुखी हुई. खिन्न होकर उसने हमारे नौकर को भेजकर पार्क वाला माली बुलवाया. माली ने पौधे देखे तो हंसकर बोला, "बहूजी, गमलों की मिट्टी बदलनी होगी, थोड़ी खाद भी लगाना होगा. मैं कल ही बढ़िया मिट्टी और खाद ले आऊंगा. गमले ठीक कर दूंगा." जरा रुककर उसने फिर हंसते-हंसते कहा, "और कहो तो साधु-बाबा को बुलाकर इनका भी इलाज करा दूं?"

मेरी पत्नी ने चौंककर पूछा, "कौन साधु बाबा? वही जो रोज शाम को पेड़ तले बैठा बांसुरी बजाता है?"

"हां बहू जी, वही—" माली थोड़ा गंभीर होकर सुनाने लगा, "तीन-चार दिन से मेरी घरवाली का सिर पिरा रहा था, दवा खाती थी, पर दर्द न रुकता. न दिन चैन, न रात चैन. कराहती, काम करती रहती फिर खटिया पर लुढ़क जाती. चार रातें उसे यों ही जागते बीती थीं. उस दिन भरी दुपहरिया में साधु बाबा मेरी कोठरी के आगे आ खड़े हुए और बोले, 'थोड़ा पानी मिलेगा, ठंडा?' मैंने घड़े का पानी पिलाया तो तृप्त होकर मुस्काये. कोठरी के भीतर से कराहने की आवाज आ रही थी. मुझसे पूछने लगे, 'कौन बीमार है? क्या हुआ है उसे?' मैंने घरवाली की तकलीफ बता दी. वे फिर हंसे और बोले, 'मैं उसे ठीक किये देता हूं.' बाबा ने अपने झोले से बांसुरी निकाली और वहीं जमीन पर बैठकर जाने कौन-सी सी रागिनी बजाने लगे."—माली मेरी ओर मुखातिब होकर कहने लगा, "बाबूजी, दस मिनिट बीतते-बीतते मेरी औरत गहरी नींद सो गयी. भगवान् जाने, बांसुरी के सुरों से उसे चैन पड़ गया कि यों ही उसे नींद आ गयी. बाबा ने बांसुरी होंठों से हटा ली, पूछने लगे, 'सो गयी न?' 'हां, महाराज!'—मैंने आगे बढ़कर साधु बाबा के चरण छू लिये. बाबा हंसकर बोले, 'वह तो सो गयी, अब मैं भी सो जाऊं.' और वहीं जमीन पर लंबे हो गये. शाम तक वे यों ही सोते रहे. फिर—मैं पौधों में पानी दे रहा था. साधु बाबा मेरे पीछे आ खड़े हुए, चारों ओर नजर दौड़ायी और कोनेवाली लताओं को देखकर पूछा—'इन लताओं पर फूल नहीं आते शायद?' मैंने कहा, 'नहीं प्रभु, पानी देता हूं, फूलती नहीं ये.' साधु बाबा ने हंसकर कहा, 'पानी देते हो, प्यार दिया कभी इन्हें? प्यार नहीं मिला किसी का, इसीलिए उदास हो गयी हैं. और यह तुमने क्या किया है हीरालाल, इनके पास सूखी घासों का ढेर लगा दिया है, इन बेचारियों का दिल जलाने के लिए? यह गट्ठर हटाओ, यहां तरु-तले जगह साफ करो अभी. इनके कोमल प्राण प्यार के प्यासे हो गये हैं. प्राणों से प्राण जुड़ने दो. ये लताएं मुस्करायेंगी, झूमेंगी और फिर खिल उठेंगी. प्रेम-रस बरसाता हूं मैं.'

"मैंने जल्दी-जल्दी मौलसिरी के नीचे की जमीन साफ कर दी. बाबा जमकर बैठे, बोले, 'देखो, मेरे साथ कोई छेड़-छाड़ न करे. इधर कोई न आने पाये, विघ्न न डाले, ध्यान रखना तुम.' और फिर होंठों से बांसुरी लगा ली. ऐसी मधुर तान छेड़ी है बाबूजी उन्होंने कि आपसे क्या कहूं! लगातार दो-तीन घंटे तक वे बैठे बांसुरी बजाते ही रहे. और उस दिन से रोज शाम को नियम से आते हैं, बांसुरी बजाते हैं पेड़ तले बैठकर. आज चौथा दिन है, नहीं पांच दिन हो गये."

मेरी पत्नी ने उत्कंठा में डूबकर पूछा, "क्या हुआ फिर?"

माली ने जरा रुककर कहा, "अब तुम चाहे यकीन करो या न करो बहू जी, आज सवेरे मैंने उठकर देखा है तो सारी लताओं पर कलियां दीखने लगी हैं. बांसुरी का रस बहाकर बाबा ने कलियां उगा दीं."

रात को फिर पत्नी ने मुझसे पूछा, "क्या यह संभव है? क्या बांसुरी की धुन से लताएं खिल सकती हैं? माली की बातें सच हैं क्या?"

मैंने कहा, "संगीत में शक्ति तो होती है. संगीत का प्रभाव तरु-लताओं पर पड़ता है—यह भी मैंने कहीं पढ़ा है. लेकिन विरले ही ऐसे संगीत-साधक होते हैं, जो अपने सुर-संधान से दीपक जला दें—दीपक राग गाकर. बादलों को बुला लें—मेघ राग गाकर. यह तो कोई साधारण-सा साधु है. इतनी सामर्थ्य कहां से लायेगा कि लताओं पर फूल खिला दे. लताएं पानी पाकर यों ही खिल गयी होंगी. तुमने माली की बातों पर विश्वास कर लिया शायद." पत्नी ने फिर एक शब्द भी न कहा, शायद सो गयी.

माली दूसरे दिन दोपहर को ही आकर हमारे गमले सुधार गया. पत्नी उतनी देर बाहर बरामदे में बैठी रही थी. शायद पत्नी ने ही माली से कहा हो, शायद माली ने खुद कहा हो मेरी पत्नी से.

शाम को जब हम भीतरवाले कमरे में चाय पीकर उठ रहे थे तो अचानक ही माली सामने आ खड़ा हुआ, हाथ जोड़कर बोला, "साधु बाबा आये हैं. बाहर खड़े हैं." हम लोग चौंके.

बाहर आकर देखा—संन्यासी गमलों के पास बैठा, उन्हें एकटक निहार रहा है. हम लोग मौन खड़े रहे—संन्यासी ने सिर उठाया. उसकी नजरें सीधे मेरी पत्नी की ओर गयीं. उसने अन्नपूर्णा की आंखों में आंखें डाल दीं और मुस्कराया, फिर यों ही कह उठा गमलों की ओर देखता, "ये तो मां से बिछुड़े बच्चे हैं. इन्हें भला कौन समझायेगा? कौन मनायेगा इन्हें?"

किसी ने कुछ न कहा. संन्यासी फिर बोला, "इन्हें आपने मां की गोद से जुदा क्यों कर दिया है? अपनी धरती माता के कलेजे से लगेंगे तो किलकारियां भरेंगे. यह तो सरासर अन्याय है, बच्चों को उनकी मां से अलग कर देना. आपने अच्छा नहीं किया."

मैंने पहली बार, दिन के प्रकाश में, इतने निकट से, संन्यासी को पूरी नजरों से देखा. थोड़ा चौंका मैं. लगा—यह कोई मामूली-सा साधु नहीं है. उसके मुख पर मुझे एक हल्की-सी आभा दीखी. किसी युवा पुरुष की ऐसी मधुर मुस्कान मैंने पहले कभी न देखी थी. उसकी आंखों में ऐसा कुछ विलक्षण भाव था कि दृष्टा बरबस आकृष्ट हो जाये. शुभ्र-उन्नत ललाट, हल्की भूरी-घुंघराली लटें गरदन तक छायी हुईं, छोटी-सी भूरी दाढ़ी, पतली भूरी मूंछें और उसकी पूरी गात्र-यष्टि ऐसी स्वच्छ, ऐसी कांतिमय लगी कि—मानो किसी तपोवन से सीधा इधर चला आया हो.

हम लोग वहीं जमीन पर उसके पास बैठ गये. वह टगर-टगर आकाश की ओर ताक रहा था. हमारी सत्ता को जैसे बिलकुल भूल ही गया था. पत्नी ने मेरे कान में फुसफुसाकर कहा, "इससे वंशी बजाने को कहिए."

"आप हमें अपनी वंशी की कोई रागिनी सुनायेंगे?" मैंने कहा. उसने चौंककर मेरी ओर देखा, मुस्कराया फिर सिर हिलाकर बोला, "नो सर! एक्सक्यूज मी. फरमाइशों पर वंशी नहीं बजाता. मेरा अभी 'मूड' नहीं है." और फौरन उठकर खड़ा हो गया. हम लोग भी खड़े हो गये थे. तब अनायास ही मैंने उससे पूछा, "आर यू बेंगाली?"

"नो सर, आई एम भारतीय, ओनली भारतीय. पृथिवी मे माता, पुत्रोहं पृथिव्याः—इतना ही मेरा परिचय है. चल हीरा भाई!" आकाश को ताकता माली से बोला फिर, "आज शायद मेरे दोस्त लोग आ जायें शाम तक." और हम लोगों की ओर बिना देखे बरामदे से नीचे उतर गया. . .

रात को फिर पत्नी ने संन्यासी की बात छेड़ी. वह शायद उससे बहुत अधिक प्रभावित हो गयी थी. सच कहूं तो मैं भी थोड़ा प्रभावित था. उसकी वह तटस्थवृत्ति, निरपेक्षता, तेजस्विता और खोया-खोयापन जैसे कहीं बहुत भीतर मन को छू गया था. बात करते पत्नी पूछने लगी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'
जन्म : 1915
पहली कहानी 1931 में प्रकाशित हुई थी, तबसे निरंतर लिख रहे हैं. अब तक इनके बीस कहानी संग्रह तथा चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं. इनकी कहानियां कई देशी-विदेशी भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं. लेखन के अतिरिक्त निर्गुण जी 1936 से 1940 तक 'माया' के संपादक भी रहे हैं. 32 वर्षों तक विश्वविद्यालय की अध्यापकी के बाद अवकाश प्राप्त. संप्रति शोधकार्य एवं स्वतंत्र लेखन.

"वह जो दोस्तों की बात कह रहा था. आकाश की ओर देखता, सो क्या मतलब था उसका?"

"पता नहीं," मैंने कहा, "को[illegible] होंगे उसके."

. . . अगले दिन शाम को जब पूरब की ओर, क्षितिज के किनारे पर, घटाएं उमड़ रही थीं और हम दोनों बरामदे में बैठे पुरवैया पवन के झोंकों का आनंद ले रहे थे, अचानक देखा—सड़क की ओर से संन्यासी लपकता चला आ रहा है. और वह हमारे पास तक आया और बहुत ही उत्फुल्ल होकर आह्लाद भरे कंठ से कह उठा सामने खड़ा-खड़ा—"मैंने कल कहा था न, मेरे दोस्त आने वाले हैं, लो, आ गये वो लोग! —मैं यहां बैठ जाऊं?"—कहता-कहता वहीं बरामदे की सीढ़ियों पर बैठ गया और घटाओं को अपलक निहारता, दोनों बाहें फैलाये धीरे-धीरे कहने लगा, "आओ, आओ, मेरे पास चले आओ बंधुओ, बड़ा इंतजार कराया, इतनी देर क्यों कर दी दोस्तो, आओ आओ, चले आओ प्राण सखा, तुम्हारा स्वागत है बंधुओ, तुम्हारा स्वागत है!"

और उसने अपने झोले से वंशी निकाल ली, वंशी होंठों से लगा ली और तब उस अनोखी वंशी से 'मेघ-मल्हार' झरने लगा झर-झर.

हम दोनों स्तब्ध होकर देखते रहे.

और घटाएं बढ़ती आयीं, घटाओं ने चारों ओर से आसमान को ढक लिया और फिर धीरे-धीरे बूंदें गिरने लगीं प्यासी धरती पर. संन्यासी सुध-बुध खोये उसी तरह वंशी के छिद्रों पर अंगुलियां चलाता, मेघ मल्हार गाता, बादलों को पुकारता रहा. उस रात फिर घनघोर वर्षा हुई. . .

मेरी पत्नी नौकर की सहायता से गमलों के सारे पौधे बरामदे से नीचे, दक्षिण की ओर जमीन पर आरोपित कर दिये थे. संन्यासी जाने कब वहां आ खड़ा हुआ और पौधों को निहारता मुस्कराता हौले-हौले गुनगुना रहा था, "मजे में तो हो दोस्तो, अब अपनी माता की गोद में बैठे हो. मुझे धन्यवाद तो दो, एहसानफरामोशो, सिर झुकाओ अपने, डालियां हिलाओ जरा."

मेरी पत्नी खिड़की से देख रही थी यह दृश्य. उसने बाहर जाकर संन्यासी से भीतर आने का आग्रह किया. संन्यासी चुपचाप चला आया और वहीं बरामदे में आल्ती-पाल्ती मारकर बैठ गया और धीरे-धीरे मुस्कराता रहा. आकाश में उस दिन भी मेघ भाग-दौड़ कर रहे थे और पुरवैया बह रही थी. किसी ने उससे आग्रह न किया था, पर संन्यासी ने स्वयं ही बांसुरी निकाल ली झोले से और बहुत ही कोमल स्वरों में वह एक विरह की रागिनी गा उठी संन्यासी के होंठों का स्पर्श पाकर.

बादल इधर-उधर भागते रहे, हवा वृक्षों को झकझोरती रही और ऐसे सुहावने समय में, मस्ती में डूबा तरुण संन्यासी कन्हैया के विरह में व्याकुल राधा की करुण पुकार सुनाता रहा. —उसके स्वर रुके, उसने आंखें खोलीं और मुस्कराया. फिर उसकी नजर पास रक्खी तश्तरी पर गयी तो चौंका, "यह क्या है?" मेरी पत्नी ने कहा, "मीठा है, खा लीजिये इसे."

"मीठा?" वह झुककर तश्तरी में रक्खे मीठे को ताकता बोला, "क्या करूं इसे?"

पत्नी ने कहा, "इसे खा लीजिये."

"इसे खा लूं?" संन्यासी मुस्कराता बार-बार पूछने लगा, "इसे खा लूं?" और पत्नी अपनी हंसी रोके कहती गयी, "खा लीजिये."

संन्यासी मीठे की ओर ताकता बड़बड़ाया, "मैं मीठे का स्वाद भूल गया हूं. पता नहीं, कितने वर्ष हुए मीठा खाये और यह कह रही है कि—मीठा खा लो. देखो तो, स्वयं अन्नपूर्णा कह रही है, अब क्या किया जाये, खा लूं तुम्हें!" उसने एक ठहाका लगाया. पत्नी भी हंसने लगी. खिड़की में खड़ा मैं भी हंसने लगा. सुंदर परिवेश में सुंदर दृश्य था वह.

संन्यासी ने आखिर मीठा खा लिया सब और मुंह चलाता-चलाता कोने में लगे नल के पास गया, हाथ धोये, पानी पिया और फिर उधर से उधर ही चल दिया झूमता हुआ, हल्की बूंदों में भीगता. उसने एक बार भी पलटकर हमारी ओर न देखा—कोई धन्यवाद न दिया, दुआ-सलाम न की. . .

दूसरे दिन मैं अपने 'टुअर' पर चला गया. यह तो मुझे नौकर की जुबानी पता चला था कि—मेरे पीछे संन्यासी प्रतिदिन शाम को आता रहा और वहीं सीढ़ियों पर बैठा बंसुरिया बजाता रहा और मांजी पास बैठी सुनती रहीं, राग-रागिनी. एक दिन, एक शाम को उसने मां जी को वंशी पकड़ा दी और बार-बार उनसे बजाने को कहने लगा. मां जी ने वंशी लजाकर अपने होंठों से लगा ली, फूंक मारी हौले से और फिर लजाकर उसे वंशी लौटा दी.

पांचवें या छठे दिन मैं लौटा तो अंधेरा झुक आया था. बादलों का यह हाल था कि—अब बरसे, तब बरसे. चपरासी ने जीप से मेरा सामान उतारकर बरामदे में रख दिया और सलाम करके जीप भगा ले गया. और मैंने ज्यों ही बरामदे में पैर रक्खा कि सहसा बिजली गुल हो गयी. चारों ओर घुप्प अंधेरा छा गया और आसमान से पट्-पट् बूंदें गिरने लगीं.

मैंने परेशान होकर नौकर को आवाज दी, "बनवारी!"

कोई नहीं बोला. मुझे घुटन महसूस हो रही थी कि खट्-से सड़क के सारे बल्ब जल उठे. मैंने दो कदम आगे बढ़कर सामने वाले कमरे की भिड़ी किवाड़ें भड़ाक-से खोल दीं. यह कमरा किचन से सटा हुआ था और अन्नपूर्णा के अधिकार में था.

मैं किवाड़ों के बीच खड़ा रह गया. मेरा सारा शरीर करेंटों के तीव्र झटके खा रहा था. मेरा मस्तिष्क, मेरा मानसिक बोध, मेरी आत्मा-सब जैसे झटकों पर झटके महसूस कर रहे थे, मैं जैसे संज्ञा शून्य हो गया. प्रकाश से आलोकित उस कमरे में मैंने अपनी आंखों से देखा—मेरी तरुण युवती पत्नी अन्नपूर्णा दीवार की ओर मुंह किये खड़ी अपनी खुली साड़ी बांध रही है और सामने ही फर्श पर युवा संन्यासी चित पड़ा है—अर्धनग्नावस्था में आंखें मूंदे. —मुझे जैसे कोई होश न था. पल भर में मैंने अपने पैंट की पाकेट से रिवाल्वर निकाल लिया और उसे लोड करके संन्यासी की ओर नली कर दी. मैं फायर करने ही वाला था कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक उसी क्षण अन्नपूर्णा ने पलटकर इधर देखा और पलक मारते वह मेरे आगे आ खड़ी हुई. उसने मेरी रिवाल्वरवाली कलाई कसकर पकड़ ली और कांपती जुबान से कह उठी, "एक मिनट, सिर्फ एक मिनट का समय दो. फिर इसे भी गोली मार देना और मुझे भी."

वह मुझे बलपूर्वक पास के ड्राइंग रूम में घसीट लायी...

उसी कांपती आवाज में अन्नपूर्णा थर-थर होते होंठों से कह रही थी, "यकीन करो, उसका कोई अपराध नहीं है. उसे पास बिठाकर कुछ खिलाने के लिए मैं आलमारी के ऊपर से फलों की टोकरी उठा रही थी. दो-तीन बार उछलकर मैंने टोकरी पकड़ ली. तभी जाने कैसे मेरी साड़ी की गांठ खुल गयी. मैं——मेरे दोनों हाथ फंसे थे. मेरी साड़ी पीछे से खिसकने लगी. मैं पीछे से बिलकुल नंगी हो गयी. मैं अपने को सम्हालूं-सम्हालूं कि उसने मुझे अपनी बाहों में भर लिया. मैं भौंचक रह गयी, मैं हतवाक् रह गयी. मैं कुछ नहीं कर सकी. मैं उसे नहीं रोक पायी. मैं इस चक्रव्यूह में अवसन्न हो गयी थी. मैं बिलकुल विवश हो गयी. मुझे नंगी देखकर वह अपना आपा खो बैठा. उसका संयम टूट-फूट गया. वह कोई लंपट नहीं है, पापी नहीं है, अपराधी नहीं है. यकीन करो, पापिनी तो मैं हूं, मैं ही अपराधिनी हूं, मैंने ही उसका पतन किया है. पर मैं जान-बूझकर नंगी नहीं हुई थी. तुम्हारे चरणों की शपथ खाकर कह रही हूं, विश्वास करो, जान-बूझकर नंगी नहीं हुई थी. नंगी देह दिखाकर उसे पागल नहीं किया था मैंने. हाय भगवान्, यह क्या हो गया, यह क्या हो गया, यह क्या हो गया!"

मैंने रिवाल्वर मेज पर रख दिया. जड़ होकर बैठा रहा कुरसी पर. ——सामने साइड वाले सोफा पर बैठी अन्नपूर्णा अपना सिर इधर-उधर झटक रही थी, आंखों से झर-झर आंसू गिर रहे थे——मैं देखता रहा. मैंने एक शब्द भी मुंह से न निकाला. कई मिनट यों ही बीते. फिर उसने जल्दी-जल्दी अंचल से अपनी आंखें पोंछीं और फिर दृढ़ स्वर में बोली, "अब तुम मुझे गोली मार दो. उसे भी गोली मार दो. सच कह रही हूं, शांति से मर जाऊंगी, चुपचाप मर जाऊंगी. तुम मुझे गोली मार दो, गोली मार दो मुझे!"——उसने आखिरी बार चीखकर कहा, "मुझे गोली मार दो!"

तब अनायास ही मेरे मुंह से निकल गया, "शांत हो जाओ. मैं किसी को भी गोली नहीं मारूंगा." मैंने रिवाल्वर उठाकर ड्राअर में पटक दिया.

अन्नपूर्णा घुटनों में सिर दिये फफक रही थी. मैंने फिर उससे शांत स्वर में ही कहा, "जाओ, संन्यासी से चले जाने को कह दो."

तब अन्नपूर्णा ने आंसुओं से धुला मुख ऊपर करके, लाल हुई आंखों से मेरी ओर निहारकर थर-थर होते होंठों से कहा——रुदन भरे कंठ से, "यह भयानक दंड मुझे मत दो. मैं तुम्हारे पैर पड़ू——उसके पास मुझे मत्त भेजो. उसके आगे मुझे मत भेजो——मैं नहीं जा पाऊंगी——मैं——" उसने फिर अपना सिर घुटनों में दे लिया और फूट-फूटकर रुदन करने लगी.

तब मैं स्वयं उठकर पास वाले कमरे तक गया. देखा——संन्यासी दीवार से धोक दिये बैठा है. नयन मुंदे हैं, मुंदे नयनों से अश्रुधाराएं बह रही हैं. मैं बिना कुछ बोले यों ही लौट आया इधर.

ठीक इसी समय नौकर बनवारी मेरे आगे आ खड़ा हुआ. त्रस्त भाव से विनय कर कहने लगा, "मालिक, मैं अस्पताल चला गया था. भतीजा बहुत बीमार है. वहां देर लग गयी. हुजूर, माफी मांगता हूं. आप कब आये हुजूर?"

मैंने बनवारी से कहा, "बरामदे में सामान पड़ा है, उसे उठा लाओ. और देखो, उधर साधु बाबा बैठे हैं, उनसे चले जाने को कह दो."

अन्नपूर्णा ने अपने को सम्हाल लिया. शांत होकर बैठी थी कि बनवारी ने लौट आकर बताया, "हुजूर उस कमरे में तो कोई भी नहीं है." फिर पत्नी की ओर मुखातिब होकर बोला, "माजी, सारा दूध उफनकर बह गया. अंगीठी बुझी पड़ी है."

"इसके बाद," उमाकांत ने सांस खींचकर कहा, "उस दिन के बाद फिर मैंने कभी अन्नपूर्णा के आगे संन्यासी की बात नहीं उठायी. जीवन, पहले की तरह, फिर सामान्य गति से चलने लगा. मैं अपने टुअर पर आता-जाता रहा. अन्नपूर्णा अपने संपूर्ण सामर्थ्य से, पूरी लगन से मेरी सेवा का भार ढोती रही शांत भाव से. परन्तु उस दिन के बाद मैंने अन्नपूर्णा के होंठों पर कभी मुस्कराहट खिली नहीं देखी—कभी नहीं हंसी वह, कभी नहीं खिलखिलायी. सब कुछ सामान्य था——बोलना-चालना, खाना-पीना, सोना. परन्तु फिर भी हम दोनों के बीच जैसे एक अदृश्य मोटी दीवार आकर खड़ी हो गयी थी. वह दीवार किसी भी दिन फिर न हटी——टस से मस न हुई.

संन्यासी का फिर क्या हुआ——कहना भूल गया मैं. उस घटना के अगले ही दिन शाम को ग्वाले के यहां से दूध लाकर नौकर बनवारी ने सुनाया, "मालिक, वे बांसुरी वाले बाबा जमुना जी में बह गये!"

मैंने उस पर कुछ भी न कहा. अन्नपूर्णा ने भी सुन लिया होगा, पर उसने भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न की. नौकर ही खुद आगे सुनाने लगा——"जमुनाजी में नहा रहे थे बाबा, डुबकी मारी, फिर नहीं उछले. फिर वे बहुत दूर बीच धार में लहरों पर लेटे दिखाई दिये. लहरों पर लेटे चले जा रहे थे——सबने देखा, उनकी लाश बह रही थी कि वे जिंदा थे, समाधि लगा ली थी, लहरों पर लेटे चले जा रहे थे——कोई नहीं जान पाया. कैसी अनहोनी हुई सरकार?"

उमाकांत ने जरा रुककर कहा, "फिर कोई विशेष घटना न हुई. दिन बीतने लगे और दिन बीतते चले गये.

"कहानी का उत्तरार्ध अब मैं संक्षेप में सुना रहा हूं. हमेशा की तरह, एक रात जब मैं टुअर से लौटा हूं तो पता चला कि पत्नी अस्पताल में है. मैं फौरन नौकर के साथ भागा-भागा अस्पताल पहुंचा. प्राइवेट-रूम के दरवाजे पर ही नर्स से भेंट हुई. नर्स मुझे जानती थी. नर्स ने प्रसन्नभाव से मुस्कराते सुनाया——"बधाई है साहब, मैडम को बेटा हुआ है. आइए, भीतर आइए."

अन्नपूर्णा अस्पतालवाले पलंग पर लेटी थी. उसका चेहरा जर्द था. वह थकी-थकी सी और उदास थी. उसकी बगल में एक नवजात शिशु सोया हुआ था.

कमरे में हम दोनों के अतिरिक्त और कोई न रहा तो अन्नपूर्णा ने क्षीण स्वर में हौले-हौले कहना शुरू किया, 'बुलावा आ गया है. मैं अब जा रही हूं. इस पंकिल शरीर से छुटकारा मिल जायेगा मुझे. इतने बेशुमार दिनों तक तुम्हारा स्पर्श नहीं पा सकी हूं. अस्पृश्य होकर अब और जिंदा रहने की हविस कतई नहीं रही. बहुत भारी यातना से मुक्ति पा लूंगी. तुमसे कुछ प्रार्थना कर रही हूं.——इस मांस के लोथड़े को किसी दूसरे शहर में अनाथालय में दे देना. यह तुम्हारा बेटा नहीं है. मेरी अवैध——जारज संतान है. इसके साथ अपना नाम कहीं मत लिखवाना. यह शायद जीवित ही न रहे. शायद जिंदा रह जाये, तो कभी कुछ दान दे देना तुम अनाथालय को इसके नाम पर. इतने उदार हो तुम, इतना जरूर कर दोगे——मुझे विश्वास है. एक पुण्यात्मा की धर्मपत्नी थी मैं. पर मेरा क्या से क्या हो गया! मेरे सारे अपराध तुमने यों ही क्षमा कर दिये हैं, पर मैं अपने को कभी क्षमा न कर सकी. तुम्हें इतने दारुण कष्ट देकर यों ही चली जा रही हूं. हाय, मैं क्या करूं भगवान्!" वह रोने लगी. फिर आंसू पोंछकर द्रवित स्वर में कहने लगी——'अंतिम प्रार्थना कर रही हूं——दूसरी शादी कर लेना. अपना जीवन सुखमय करके बिताना. और मुझे कभी याद मत करना——कभी भी याद मत करना अपराधिनी को——' कहते-कहते उसका गला रुंध गया आंसुओं से. तो मैंने भावविह्वल होकर उसके मस्तक पर हाथ रख दिया और किसी प्रकार बलपूर्वक कहा, 'तुम्हें शांत रहना चाहिए.'

मेरे स्पर्श से कातर होकर उसकी दुर्बल देह कांपने लगी. नयन मूंदे, उसने अस्फुट स्वर में हौले-हौले इतना ही कहा, 'तुम्हारा आखिरी आदेश पालन करूंगी मैं. शांत रहूंगी.'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोर की बेला मेरा टेलीफोन घनघना उठा. अस्पताल का 'कॉल' था. मैं अकुलाकर भागा-भागा अस्पताल पहुंचा तो अन्नपूर्णा शांत हो चुकी थी. . ."

उमाकांत मौन हो गया था. मैं उसका शांत-गंभीर चेहरा देखता चुप बैठा रहा. कई मिनट यों ही बीत गये. उमाकांत ने लंबी सांस ली. मेरी ओर ताका. तनिक मुस्कराया और फिर शांत स्वर में कहने लगा, "इन बातों को गुजरे अब बाईस-तेईस वर्ष हो चुके. मैंने अन्नपूर्णा की दोनों अंतिम प्रार्थनाओं में से एक को भी नहीं माना. मैंने सात पाउंड के उस मांस-पिंड को किसी अनाथालय में न दिया. मैंने फिर दूसरी शादी भी न की. ऐसा क्यों किया मैंने, किसलिए—"

उमाकांत आगे कुछ कहता, इसके पूर्व ही पीछेवाला दरवाजा खुला और एक सलोना-सा नवयुवक भीतर घुस आया. लपककर नीचे झुका और उमाकांत के चरण छूकर प्रसन्न मुद्रा से चहक उठा, "पापा, मैं 'चयन' में आ गया हूं."—तब उमाकांत जरा-सा मुस्कराया. लड़के को स्नेह से निहारता बोला, "मैंने सुन लिया है. वर्मा ने मुझे ट्रंककाल से बतलाया था."—लड़का खुश-खुश बाहर भाग गया. पड़ोसवाले कमरे से उसके मित्रों के कहकहे सुनाई दिये.

उस देवस्वरूप नवयुवक के चले जाने पर लगा, जैसे घड़ी भर के लिए प्रकाश हो गया था कमरे में, घड़ी भर में अब बुझ गया जैसे. उमाकांत के होंठों पर अब भी मुस्कराहट बाकी थी. मुझे अचंभित-उत्कंठित देख उमाकांत ने धीरे से कहा, "यही वह लड़का है—समझ गये होंगे. आई.ए.एस. के चुनावों में आ गया है." मेरे आश्चर्य की सीमा न रही.

उमाकांत शांत स्वर में आगे सुनाने लगा, "मैंने उस दो दिन के नवजात की रक्षा के लिए प्राणपण से चेष्टा की. नर्सें रक्खीं, दाइयां रखीं, फिर मेरी एक विधवा मौसेरी बहन आ गयी—उसने अपना संपूर्ण स्नेह दिया उसे. मैं बराबर सारे साधन जुटाता रहा इसके पालन-पोषण के लिए. फिर वह किशोर हुआ और फिर नवयुवक भी बन गया. उसने आज तक मुझे कभी किसी शिकायत का मौका न दिया. इतना ब्रिलियंट सिद्ध हुआ कि—नीची कक्षाओं से लेकर बी.ए. तक था आउट फर्स्ट क्लास पाता रहा. एम.ए. दिया तो पूरी यूनिवर्सिटी में 'टॉप' कर गया. पांच स्वर्ण पदक मिले उसे. प्रतिभाशाली, उज्ज्वल चरित्र, स्वस्थ, स्वरूपवान, अनोखा यह श्रीकांत जो अभी तुम्हारे सामने आया था—मुझे 'पापा' कहता है. हर कहीं—हर जगह पितावाले कालम में मेरा नाम यानी उमाकांत मिश्र अंकित होता रहा है. यह कितना अद्भुत लगता है—कितना स्पृहणीय, कितना आनंददायी. पर बंधु, मैं किसी भी दिन यह नहीं भूल पाया कि—वस्तुतः श्रीकांत कौन है मेरा. श्रीकांत मेरा बेटा नहीं है—मेरा रक्त नहीं है. मेरा वंशज नहीं है. मेरा कोई नहीं है श्रीकांत. सारी दुनिया उसे मेरा पुत्र कहती है—यही उसका परिचय है. मैंने कभी इस रिश्ते को अस्वीकार नहीं किया है—यह सच है. पर जो सब कुछ जानते हैं—वे अंतर्यामी अवश्य हंसते होंगे, इस असत्य पर. तुम मेरे बाल्य-बंधु हो. कभी वे दिन हमने साथ-साथ बिताये हैं. जब हम छोटी-से-छोटी बात भी एक-दूसरे से निःसंकोच कह देते थे. इतने वर्षों के बाद तुमसे भेंट हुई है तो जैसे वही बचपन लौट आया है. संवरण नहीं कर सका. जो आज तक कभी किसी को नहीं बतलाया—तुम्हें सारा चिट्ठा सुना दिया है. और एक बात सुन लो—यह श्रीकांत और कोई नहीं—स्वयं वही संन्यासी है. मैं तुम्हें बतलाता हूं—

यह किशोरावस्था में था, तब की बात है. मैं कहीं बाहर से लौटकर आया. एक शाम को तो क्या देखता हूं कि—पासवाले कमरे में वंशी बज रही है! मेरे भीतर सनाका हो गया. क्या संन्यासी लौट आया है? क्या संन्यासी अभी जीवित है? आकुलता से छटपटाता मैं उधर गया तो देखा—पलंग पर आंखें मूंदे लेटा श्रीकांत वही संन्यासी वाली रागिनी बंशी में बजा रहा है. मेरी आहट पर वह उछलकर खड़ा हो गया. मुझे स्तंभित देख खुशी से उसने सुनाया—"पापा, मुझे मां के बक्स में यह वंशी रखी मिली है. पापा, मेरी मां वंशी बजाया करती थी? पापा, मैंने थोड़ी मेहनत की तो मुझे यों ही वंशी बजाना आ गया. पापा, बादल आते हैं तो मुझे वंशी बजाते बहुत अच्छा लगता है. पापा, मुझे बादल बहुत प्यारे लगते हैं." एक सांस में वह सारी बातें सुना गया. मैं मौन सुनता रहा.

श्रीकांत ने प्रसन्न भाव से पूछा, "पापा, यह जो मैं अभी स्वर निकाल रहा था, ये मेरी मां की नोट-बुक में लिखा एक गीत है—'राति बजै, आधी राति बजै, सारी राति बजै बैरिन बंसुरी!'—पापा, कितना बढ़िया गीत है यह!"

उस दिन रात को मुझे ठीक तरह से नींद न आयी. अन्नपूर्णा के बक्स में संन्यासी वाली बांसुरी रखी रही है. उसकी नोट-बुक में विरह के दारुण गीत अंकित हैं. तब क्या वह बराबर मेरे साथ नाटक करती रही? नाटकों के डायलाग बोलती रही? सब छल था क्या? उस भयानक रात को उसने रो-रोकर जो कुछ कहा था—घोर असत्य था क्या? क्या वह मोह में डूबकर संन्यासी के आगे स्वयं 'समर्पिता' हो गयी थी?—ये प्रश्न मुझे झंझोड़ते रहे सारी रात. मान लो, मेरा संदेह सत्य ही हो, तो भी अब मेरे लिए इस बात का क्या मूल्य है? मैंने अपने मन को समझा लिया था दूसरे दिन ही—यही कहकर कि—जो कुछ भी हुआ प्रभु की इच्छा से ही हुआ है. —अब कल मेरे इष्ट-मित्र मुझे बधाइयां देने आयेंगे—बेटा कलक्टरी के चुनाव में आ गया. और मैं हंस-हंसकर सबकी बधाइयां स्वीकार करूंगा. श्रीकांत मेरा बेटा है—इस भारी असत्य को मैं इतने वर्षों से अपने कलेजे से लगाये पाल-पोस रहा हूं. यदि मैं किसी दिन 'सत्य' का उद्घाटन कर दूं—श्रीकांत मेरा बेटा नहीं है—तो कितना भयंकर अनर्थ हो जायेगा—कल्पना करो जरा. श्रीकांत के लिए, मेरे लिए और सबके लिए—समाज के लिए 'असत्य' ही मंगलकारी बन गया है—देख ही रहे हो. सत्य भयानक और असत्य सुंदर हो जाता है—लोग शायद विश्वास न करें, पर यहां तो स्पष्ट ही सत्य पर असत्य की विजय है.

लोगों की धारणा कि इस लड़के की खातिर मैंने दूसरी शादी नहीं की, असत्य है. लड़का शादी में कभी बाधक न था. धारणा है—अन्नपूर्णा को मैं बेहद प्यार करता था, उसे भुला नहीं पाया, इसीलिए दूसरी शादी नहीं की. पर यह नितांत असत्य है. असलियत यह है कि—मेरी इच्छा ही नहीं हुई दुबारा गृहस्थी बसाने की. बस, यों ही रह गया.—और अब श्रीकांत कलक्टर हो जायेगा और अपने उस बाप का नाम रोशन करेगा—जिसका वह बेटा ही नहीं है. किसी दिन फिर उसकी शादी होगी. संतानें होंगी उसकी. फिर और आगे वंश-वृक्ष फले-फूलेगा. वास्तव में वह वंश-परंपरा उस संन्यासी की होगी, जो मेरा 'रकीब' बन गया था. और मैं, जो कभी गृहस्थ था—निर्वंशी होकर मरूंगा—यह एक कठोर सत्य है.

दुनिया कहती है—मैंने श्रीकांत के लिए त्याग और बलिदान किये हैं. यह कोरा असत्य है. मैंने श्रीकांत के लिए जो कुछ किया है, उसके प्रतिदान में श्रीकांत ने मुझे अधिक ही दिया है. घाटे में नहीं हूं.

अपने बाल्यकाल से लेकर आज तक वह जो प्रतिदिन मुझे एक हल्का-हल्का-सा सुख देता रहा है, दे रहा है, अपनी अप्रतिम सत्ता-से—अपनी अनुपम उपलब्धियों से—यह छोटा सा सुख मेरे लिए बहुत बड़ी नियामत है. यही शायद मेरे संपूर्ण जीवन की एकमात्र चरम सार्थकता है. . . ."

उमाकांत मौन हो गया था. मैं स्तब्ध बैठा था. उमाकांत की आंखें पुरनम थीं. वह शून्य की ओर ताकने लगा था.

बाहर, आसमान से पट्-पट् करके बूंदें गिरने लगीं. □

● डी. 5/131, त्रिपुरा भैरवी, मीरघाट, वाराणसी-1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिथि

-अमृतराय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीस साल पहले जो आदमी देखने में ही नहीं, बोलचाल और व्यवहार से भी खासा प्रभावित करता था... अनायास क्या हुआ कि वही अजाना और अविश्वसनीय हो गया? जिंदगी के सफर का आखिर कौन सा मोड़ है जहां पहुंचकर इंसान अपने परिजनों की आत्मीयता से भी हाथ धो बैठता है...? प्रख्यात कथाकार अमृतराय की मार्मिक कहानी—

बरसात के दिन थे. जोर का एक लहरा गिर चुका था और इस समय भी हल्की-हल्की झींसी पड़ रही थी. सबेरे का यही नौ-दस बजा होगा. रेवा और मैं, हम दोनों बरामदे में बैठ कर बरसात का मजा लेते हुए चाय पी रहे थे कि तभी हमें फाटक में एक रिक्शा अंदर आता दिखायी पड़ा. रिक्शे में गठे हुए दुहरे बदन और मझोले कद का एक आदमी बैठा था. राम जाने कौन है. नीचे, उसके पैरों के पास छोटा-सा एक बक्सा भी रखा था. लगता है, स्टेशन से सीधे यहीं चला आ रहा है. यहीं ठहरेगा शायद. मगर है कौन? चेहरा कुछ देखा हुआ-सा तो लगता था पर ठीक से पहचान में नहीं आ रहा था. पता नहीं कै रोज ठहरे. लंबे भी ठहर सकता है. क्या ठिकाना.

रेवा ने आशंकित आंखों से मेरी ओर और मैंने रेवा की ओर देखा और फिर हम दोनों उस रिक्शे की ओर देखने लगे जो अब तक काफी आगे बढ़ आया था. उस आदमी के चेहरे पर जरा घबरायी हुई-सी एक मुस्कराहट के रंग आ-जा रहे थे और वो आदमी बड़ी तेजी से हाथ हिला-हिलाकर कुछ कह भी रहा था जो हमें साफ सुनायी नहीं दिया. उम्र ढलने के साथ-साथ अपने कान भी तो अब उतने तेज नहीं रहे और न आंखों में ही अब वो पहले जैसी रोशनी बाकी है. पर जितना कुछ देखा और सुना और समझा, वो चाय का मजा किरकिरा कर देने के लिए काफी था.

हम दोनों तेजी से अपना अपना दिमाग टटोल रहे थे, पहचानें तो कि ये बला आखिर है कौन, कि तब तक रिक्शा आ पहुंचा, और उस आदमी ने रिक्शे से उतरते हुए बड़े तपाक से पूछा, "पहचाना जीजी?"

रेवा ने शायद अब तक उसे थोड़ा-थोड़ा पहचान लिया था लेकिन मैं अब भी उसे बौखल की तरह देखे ही जा रहा था. हुलिया भी तो उसने कैसा अजीब बना रखा था, बहुरूपियों जैसा. बहुत ही मैले-कुचैले जींस, जैसा कि शायद जींस के लिए शास्त्र-विहित है, ऊपर एक उतनी ही मैली-कुचैली डेनिम की कमीज जिसके बटन खुले थे और भीतर से उसके सीने के बाल बाहर को निकले आ रहे थे. कमर में जो पेटी बंधी थी उससे पांच-सात घंटियां लटक रही थीं और चिड़ियों के दो-चार रंग-बिरंगे पंख कमर के दोनों ओर यहां-वहां खुंसे थे. चेहरे पर घनी दाढ़ी का एक जंगल था, और सर के बाल भी वैसे ही साधु-बाबा लोगों के जटा-जूट जैसे उलझे-पुलझे, पता नहीं कितने बरसों की धूल में अटे हुए. दाहिने हाथ में एक लोहे का कड़ा भी पड़ा था.

रिक्शेवाले ने तब तक दफ्ती का एक छोटा-सा बक्सा लाकर बरामदे में रख दिया. उसके पीछे-पीछे वो आदमी भी बढ़ गया. और बरामदे की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए बोला, "अब भी नहीं पहचाना, जीजी? मैं सुरेश हूं. और भैया, आपने भी नहीं?"

सुरेश नाम से ही हम दोनों को बिजली का-सा एक झटका लगा. झटका थोड़ा संभला तो फिर बीसों बरस पुरानी यादें तेजी से आ-आकर मन के आकाश में मंडराने लगीं और देखते-देखते सब कुछ जैसे एक सियाह धुंध में खो गया, एक उस घाव को छोड़कर जो उस पुराने वक्त के साथ हरा हो गया था.

हमारा जवान बेटा चंदन अस्पताल में पड़ा था, एक ऐसी बीमारी में गिरफ्तार जिसका दुनिया में कहीं इलाज न था. किसी से ये बात छिपी न थी मगर सब एक-दूसरे से इसको छिपाकर खुश रहने का नाटक कर रहे थे, भले कोई मतलब न हो उसका, क्योंकि उस लड़के से भी ये बात नहीं छिपी थी, जिसका दिल सबसे पहले बहलाने के लिए ये सब नाटक किया जा रहा था. अपने ढंग का बड़ा मजेदार... और जहां मुखौटा जरा-सा खिसक जाये, उतना ही दर्दनाक नाटक था, जो सबेरे आंख खुलने से लेकर रात बारह-एक बजे तक चलता रहता था, जब सब अपने-अपने बिस्तरों पर सोने या रात की रात जागते पड़े रहने के लिए चले जाते.

बीस बरस होने को आये लेकिन आज भी उसे याद करके दिल जैसे दहल-सा जाता है... कैसा अजीब मुतहा नाटक था वो जिसमें और सब लोगों के साथ चंदन भी उतने ही मनोयोग से अपना पार्ट खेल रहा था!

इस नाटक का सूत्रधार था किशन जो इस अनिश्चित अवधि के लंबे नाटक को अधिक से अधिक रोचक बनाने के लिए नित्य उसमें नया कुछ जोड़ता रहता.

फिर एक दिन खेल खतम हो गया और नाटक पर परदा पड़ गया.

उन्हीं दिनों ये सुरेश हमारी जिंदगी में आया था, किशन के एक अच्छे दोस्त के रूप में. आई.सी.एस. बाप का बेटा था, दिल्ली यूनिवर्सिटी में किशन के साथ पढ़ा था. घर से अच्छे पैसे मिलते थे तो रहन-सहन भी फिर वैसा ही ठाठ-बाट का था—दामी कपड़े का बहुत अच्छा सिला हुआ सूट बदन पर, कीमती रेशमी टाई समेत, और जूते हमेशा चमाचम चमकते हुए. जी हां, अभी अपने यहां नीले जींस का चलन नहीं हुआ था. अभी उस क्रांति को पंद्रह-बीस साल की देर थी. फिर तो नयी रोशनी के हर अल्ट्रा-मॉडर्न, अंग्रेजी गिटपिटाते नौजवान के बदन पर वही मैले-कुचैले, घिसे हुए नीले जींस दिखायी पड़ने लगे, जगह-जगह से उनका रंग उड़ा हुआ क्योंकि इसी का फैशन था, इसके बिना बात नहीं बनती थी. वर्दी तो वर्दी, उसमें फिर कसर क्यों रहे कि लोग नाम धरें, कैसा गंवार आदमी है! सबकी देखा-देखी आप भी जींस चढ़ाकर आ गये पर उसका ढंग आपको एक नहीं आता!

मतलब ये कि देश में अभी ये इंकलाब होना बाकी था और अच्छे कपड़े पहनने में अभी किसी को शर्म नहीं मालूम होती थी. और सुरेश अच्छे कपड़े पहनता था और ढंग से रहता था—अच्छा लगता था उससे मिलकर, जो सिर्फ जूते-कपड़े की बात नहीं थी. बोलचाल में भी मीठा था, कोई काम सहेजो तो दौड़कर उसे पूरा भी करता था. अच्छा, भरोसे का आदमी था.

फिर जाने क्या हुआ उसे. बरसों भेंट नहीं हुई. उससे, बस, खबरें यहां-वहां से तरह-तरह की पहुंचती रहीं, एक से एक भयानक.

सुना कि उसे गांजे-चरस की लत लग गयी है. फिर सुना कि वो स्मगलर हो गया है. हमारे तो कान खड़े हो गये ये सुनकर. ये सब क्या हो रहा है इस लड़के को? स्मगलरों की ये संगत उसे कहां से मिल गयी? छी, छी, जो न हो जाये आजकल सो थोड़ा है!

आठ-दस महीना बीता होगा कि सुनने में आया कि सुरेश पकड़ा गया और हवालात में उस पर लात-घूंसे और लाठी-डंडे बरसे सो तो बरसे ही, दो साल जेल की हवा भी खानी पड़ी. वहां से तो फिर वो और भी पक्का क्रिमिनल बनकर निकला. जेल से बाहर आते ही उसने पहला काम ये किया कि अपना नाम-वाम सब बदल डाला और जाली पासपोर्ट के धंधे में लग गया. तीन बरस डटकर कमाई भी की उसमें लेकिन फिर जब दूसरे भी कई लोग इसी धंधे में आ गये तो सुरेश ने अपना जाल-बट्टे का काम और भी दस दिशाओं में फैला दिया. कपड़े-वपड़े ठाठदार पहनता ही था, अंग्रेजी फर्राटे से बोलता ही था, लच्छेदार बातें करने का हुनर पास में था ही, फिर और क्या चाहिए दुनिया फतह करने को. सो उसके पास तो एक ओर भी ब्रह्मास्त्र था जो किसी को भी धराशायी कर देने के लिए काफी था—अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस आदि कई देशों के बड़े-बड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

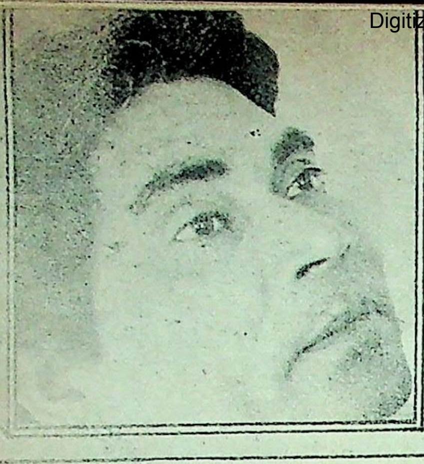

▣ अमृत राय
लगभग पचास वर्ष की रचना-यात्रा तय कर चुके अमृतराय हिंदी के उन वरिष्ठ कथाकारों में से हैं जो कविताएं पढ़ना पसंद करते हैं. 'बीज' जैसा उपन्यास जहां उनके समर्थ उपन्यासकार को सामने रखता है वहीं 'कलम का सिपाही' जैसी कृति उन्हें एक उल्लेखनीय जीवनीकार साबित करती है. 'विजिट इंडिया' जैसा संग्रह जहां उनके व्यंग्यकार को प्रस्तुत करता है वहीं 'अग्निदीक्षा' और 'समरगाथा' जैसे अनुवाद उनके समर्थ सर्जनात्मक अनुवादक/रूपांतरकार को भी प्रमाणित करते हैं.

बैंकों, लॉयड्स, ग्रिंडलेज, बार्कलेज, सिटीबैंक वगैरह की चेकबुक जो उसने अपनी विदेशयात्राओं में जमा कर ली थीं, थोड़े-थोड़े पैसे उन बैंकों में डालकर. उनके चेक देखकर ही सामनेवाला बेहोश हो जाता और जब तक उसकी वो बेहोशी टूटने का दिन आता तब तक सुरेश दस-पंद्रह रोज किसी फाइवस्टार होटल में ठहरकर अपना काम खूबसूरती से निबटाने के बाद उड़ंछू हो चुका रहता. कहीं से कोई मर्सेडीज या टोयटा गाड़ी खरीदी और किसी को बेच दी, कहीं किसी अच्छी जमीन-जायदाद का सौदा कर लिया. कहीं कुछ, कहीं कुछ, दिमाग अच्छा तेज चलता था. इधर खरीदा, उधर बेचा. . . और चंपत हुआ. अब ढूंढा करो उसको. कई बार साफ बच भी निकलता, कभी पकड़ भी जाता और फिर अच्छी तरह पिटाई भी होती, सुना कि एक-दो बार जान पर भी बन आयी थी, और जेल जाना तो जैसे कोई बात ही नहीं. कभी अंदर कभी बाहर, यही उसकी जिंदगी थी और अब शायद इसी में उसे मजा आने लगा था. पर मुझे तो जब-जब उसकी ऐसी कोई खबर मिली, मुझे बड़ा गुस्सा आया उस पर—भले घर का लड़का, ये सब क्या करता फिरता है, क्यों ढंग का कोई काम नहीं करता, सारे खानदान को बदनाम कर रहा है! . . .लेकिन फिर उसके साथ ही मैंने ये भी देखा कि मेरा वो गुस्सा बहुत देर न चल पाता और एक अजीब-सी उदासी मन को घेर लेती. क्या फायदा उस बेचारे को दोष देने से. जैसी दुनिया में उसने आंखें खोलीं उसी के रंग में ढल गया, इतना ही तो अपराध है उसका. जहां बेईमानी ही फलती-फूलती हो और ईमानदार आदमी धक्के खाता फिरता हो; जहां पैसा ही राजा हो और यह पूछना मना हो कि ये पैसा कहां से आया, किस रास्ते से आया, किसकी आंख में धूल झोंककर आया, किसका गला रेतकर आया, वहां और होगा भी क्या? यही तो एक अकेला तराजू है समाज के पास जिस पर वो सबको तौलता है!

आज उसे औघड़ों जैसे इस हुलिए में अपने सामने खड़ा देखकर मन और भी उदास हो गया—और उसी उदासी के साथ एक बार बड़े जोर से उसके प्रति ममता भी जागी, लेकिन एक जो शंका-कीट मन के किसी कोने में दुबका बैठा था उसने कुतर दिया उसको और मैं पसीजकर भी नहीं पसीजा और दूकेरी बनी की बनी रही. शाद ऐसा ही कुछ हाल रेवा का भी था क्योंकि मैंने देखा कि वो कुर्सी छोड़कर खड़ी हो गयी, दो-चार कदम आगे भी बढ़ी लेकिन फिर जैसे ठिठक गयी. उसी के शहर और मुहल्ले का होने के नाते, उसके छोटे भाई का मित्र होने के नाते सुरेश रेवा के पैर छूने के लिए झुका तो रेवा ने कुछ बहुत ललककर उसका स्वागत नहीं किया जैसा कि उसका स्वभाव है, बल्कि जैसे थोड़ा घबराकर एक कदम पीछे हटते हुए बोली, "अरेरे भैया, ये क्या करते हो!"

लेकिन सुरेश उसे अब छोड़नेवाला था, उसने रेवा के पैर छू ही लिये और हल्के-से मुस्कराकर बोला, "मुझे तो तुम भूल ही गयीं जीजी, लगता है अपने देस का चलन भूल गयीं!"

सुरेश ने इतनी-सी देर में यह जो दूसरी बार हमें उलाहना दिया था, उसका जवाब देते हुए रेवा ने कुछ झेंपे-झेंपे से स्वर में कहा, "नहीं भैया, भूली नहीं, पर ये भी तो सोचो कि आज कितने बरस पर मिल रहे हो! पंद्रह बरस? बीस बरस? मुझे तो ठीक याद भी नहीं. . ."

सुरेश पलटकर कुछ कहता इसके पहले ही मैंने रद्दा कस दिया, "उस पर से बाबा लोगों जैसा हुलिया तुम्हारा, ये चीकट बालों का झोंआ सिर पर औंधाया हुआ, ये विकराल दाढ़ी, कोई तुम्हें पहचाने भी कैसे!"

सुरेश के उलाहने का जवाब हो गया. हिसाब अब बराबर था. न किसी ने किसी को याद किया और न कोई किसी को भूला.

फिर हम तीनों वहीं बैठकर बातें करने लगे. मां कैसी हैं? पापा कैसे हैं? महेश कैसा है? क्या कर रहा है? (खुद वो क्या करता रहा, ये सवाल हम दोनों ही बचा गये!) तुम्हारी बड़े बहन, वो सुदर्शना आजकल कहां है? उसके बच्चे तो अब सब बड़े-बड़े हो गये होंगे? लड़कियों की तो शादियां भी हो चुकी होंगी?

रस्मी सवाल थे पर उनके जवाब सुरेश ने बड़ी आत्मीयता से दिये और अपने घर-परिवार की तमाम जानकारियों से हमें अपटूडेट कर दिया. फिर उसके सवालों की झड़ी शुरू हुई. पहले तो उसने हम दोनों अधेड़ लोगों के ढलते शरीर के बारे में चिंता प्रकट की, फिर दो-चार बातें हमारे बेटे संदीप के बारे में—दिखायी नहीं पड़ रहा है, कहीं और काम करने लगा क्या? विदेश से तो लौट आया होगा? शादी-वादी भी हो गयी होगी? यहीं हुई या अपने संग कोई विदेशी लड़की लेता आया था.

फिर तो किशन की चर्चा निकल आयी और एक दफ्तर ही खुल गया बातों का. जाने कितना कुछ जानना था उसे किशन के बारे में. बरसों से भेंट भी तो न हुई होगी. इतना पुराना दोस्त ठहरा उसका, हमसे उसका हालचाल न पूछे तो फिर किससे पूछे?

रेवा इस बीच कब उठकर अंदर चली गयी, मुझे पता भी नहीं चला, काफी देर से मैं अकेले ही मोर्चा संभाले था. बातचीत का सिलसिला खासा ठीक-ठाक चल रहा था मगर अभी कुछ देर से एक और ही चिंता भीतर ही भीतर मन को कुरेदने लगी थी—हमारी इस बातचीत में वो कहीं इतना अपनापा न ढूंढ ले कि चिपक ही रहे यहां! मेहमान, मेहमान जैसा ही अच्छा होता है, इधर आया उधर गया, और फिर सुरेश जैसा मेहमान! कहीं टिक गया दस-पंद्रह रोज तो बस अपना तो दम ही निकल गया समझो! इतने में ही तो सिर चकराने लगा बोल-बोलकर! और फिर क्या ठिकाना ऐसे आदमी का, चलते-चलाते कोई खेल दिखा ही दे! इतना तो साफ ही है कि इन दिनों उसका हाल अच्छा नहीं है, कमर काफी टूटी हुई लगती है, धंधे पर कोई संकट आ पड़ा है शायद, कौन जाने पुलिस पीछे पड़ी हो उसके और वो कुछ रोज यहीं सिर छिपाने के लिए आ गया हो!

इस आशंका से तो मेरा जी और ही कांपने लगा. ऐसे आदमी को ठहराने में तो जोखिम ही जोखिम है. . .अपने साथ ही कहीं मुझको भी जेल की हवा न खिला दे अब इस बुढ़ौती में! अभी तक तो मैं इसी चिंता में घुल रहा था कि चलते वक्त वो अपनी जीजी से हजार-पांच सौ न मांग बैठे, कि रास्ते में कहीं जेब कट गयी, घर लौटते ही आपको ड्राफ्ट भेज दूंगा! खोपड़ी तेज चलती ही है, एक नहीं सौ कहानियां गढ़ लेगा! लेकिन जब से ये पुलिस से भागकर यहां आ छिपनेवाली बात अचानक मेरे मन में आयी है, तब से मुझे और ही चैन नहीं. जो हो अब तो आकर डल ही गया है. अब तो बस भगवान से मनाओ कि जल्दी ही गला छूटे, हम पर कोई आफत न आये! पुलिसवालों को तो जानते ही हो, उन्हें तो बस कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहाना भर मिलना चाहिए, फिर कोई कुछ सुनेगा थोड़े ही!

और तब मैं उससे दूर होने लगा. ज्यादा मेल-मिलाप ठीक नहीं. मैंने फिर अखबार उठा लिया और उसी में आंख गड़ाये बैठा रहा, भले उसकी एक लाइन मेरे भेजे में न घुस रही हो. उधर सुरेश था कि बोले ही जा रहा था, पता नहीं उसे कितनी बातें करनी थीं. लेकिन मैं अब काफी अनमने ढंग से 'हां', 'हूं', में उसे जवाब दे रहा था, कभी सुनी-अनसुनी भी कर देता.

रेवा का अब तक कहीं पता न था, राम जाने कितना क्या पकाने लग गयी इसके लिए.

खाना बनानेवाली की रिश्तेदारी में आज कहीं गमी हो गयी थी तो रसोई का सब काम आज रेवा को ही देखना था—और ऐसे में ही ये सुरेश आ गया था तो उसके स्वागत-सत्कार का बंदोबस्त भी उसको ही करना था और ढंग से करना था. जैसा कि वो कर भी रही थी. लेकिन सुरेश के इस तरह अचानक टपक पड़ने से वो भी खासी उलझन में पड़ गयी थी—ऐसे में अब क्या करे कि सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे! आ गया तो चलो आ गया, कोई बात नहीं, बीसों बरस का मुलाकाती है, अपने ही शहर और मुहल्ले का आदमी है, किशन का अच्छा दोस्त रहा है, अपना समझकर ही मिलने चला आया है, अच्छी-सी चाय पिला दूंगी, फिर भी रहा आया तो खाना भी खिला दूंगी, बस डेरा न जमा ले यहां वरना कच्ची फांसी हो जायेगी. हम दोनों अपने दो जनों के एकांत के इतने आदी हो गये हैं कि अपने बीच तीसरे किसी बाहरी आदमी की उपस्थिति एक बोझ बन जाती है. . . कहीं सोच बैठे कि अच्छा तो है यहां, सब आराम है, घर भी खूब बड़ा-सा है, आओ कुछ रोज यहीं जीजी के पास रहा जाये. बीवी-बच्चे हैं नहीं कि उनकी चिंता सताये, हां, बुढ़िया मां जरूर है पर जहां तक मुझे याद है वो तो बहुत दिनों से अपने छोटे बेटे के साथ रहती है जो हाईकोर्ट में वकालत करता है, अच्छे पैसे कमाता है और बीवी-बच्चे समेत ढंग का गृहस्थ आदमी है. ये सुरेश रहा छुट्टे सांड की तरह घूमने के लिए, जिधर सींग समाये उधर ही चल पड़ा. पिता के न रहने के बाद भी उसका ढर्रा नहीं बदला. उल्टे-सीधे बहुत कमाया और वैसे ही उल्टे-सीधे लुटाया भी. आजकल लगता है शायद कुछ ज्यादा ही बुरे दिन आ गये हैं, जभी इतने बरसों आज एकाएक जीजी की याद आ गयी वरना कैसी जीजी और कहां की जीजी!

गैस के एक बर्नर पर चाय का पानी चढ़ा था और दूसरे पर भजिये तले जा रहे थे. उसी के साथ-साथ रेवा के मन में सुरेश को लेकर अलग एक खिचड़ी पकती रही. उधर नाश्ते की तैयारी पूरी हुई, इधर से खिचड़ी भी अब पककर तैयार थी.

अकसर लोग जरा कड़ी चाय पीना पसंद करते हैं, यह सोचकर रेवा ने और दिनों से ज्यादा चाय की पत्ती टी-पॉट में डालकर बड़े प्रेम से चाय बनायी, चार तश्तरियों में वो भजिये और दूसरे सब मीठे-नमकीसे सजाये और सब लेकर मुस्कराती हुई बाहर आयी जहां उस वक्त एक भद्दी-सी खामोशी छायी थी.

मैंने एक-दो बार सुरेश को कनखियों से देखकर ताड़ लिया था कि वो बातें करने के लिए उतावला हो रहा है. बहुत अच्छा! मैं अपने अखबार में और भी डूब गया, कि जैसे उसका अक्षर-अक्षर मुझे अभी इसी दम चाट जाना है!

मुस्कराती हुई रेवा को देखकर सुरेश की जान में जान आयी, वो भी मुस्कराया और थोड़ी ही देर में फिर पहले की तरह चहकने लगा, जो कि मुझे अच्छा नहीं लगा. . . ये रेवा भी कैसी है! आयी और मेरा किया-धरा सब मिट्टी कर दिया!

तभी मैंने रेवा को कहते सुना, "इतने बरसों बाद श्रीमान को आज एकाएक जीजी की याद कैसे आ गयी?"

बहुत साधारण और स्वाभाविक-सी ही एक बात थी पर सुरेश थोड़ा-सा अचकचा गया और क्षमायाचना-सी करते हुए बोला, "नहीं जीजी, याद तो बहुत. . ."

कल्पना

यावत् मिथ्या और दरोग की किबलेगाह इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर-छोर किसी ने पाया है? अनुमान करते-करते हैरान गौतम से मुनि 'गोतम' हो गये. कणाद तिनका खा-खाकर तिनका बीनने लगे पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया. कपिल बेचारे पचीस तत्वों की कल्पना करते-करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गये. व्यास ने इन तीनों दार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे, यह संपूर्ण-विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख-सुन सकते हैं, सब कल्पना ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है.

आत्म-निर्भरता

इधर पचास-साठ वर्षों से अंग्रेजी राज्य के अमन-चैन का फायदा पाये हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह कर पहले से ड्योढ़ी दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे. हमारे देश की जनसंख्या अवश्य घटनी चाहिए. आत्म-निर्भरता में दृढ़, अपने कूवते-बाजू पर भरोसा रखनेवाला पुष्टवीर्य, पुष्ट-बल, भाग्यवान, एक संतान अच्छा. 'कूकर सूकर से' निकम्मे, रग-रग में दास-भाव से पूर्ण, परभाग्योपजीवी दस किस काम के?

(पंडित बालकृष्ण भट्ट के उपरोक्त शीर्षकों से ही लिखे गये दो निबंधों के अंश).

रेवा ने उसकी बात बीच में ही काटते हुए कहा, "सब झूठ. . सरकार की सवारी इसी रास्ते कहीं और जा रही होगी तो सोचा चलो खड़े-खड़े जीजी से भी मिलते चलें!"

मेरी आंखें अखबार पर गड़ी थीं पर मेरे कान इधर को ही लगे थे. रेवा की बातचीत का ढंग मुझे कुछ बहुत भा नहीं रहा था—जरा ज्यादा ही अपनापन दिखला रही है, अभी जो कहीं वो कह बैठे, 'तुम भी कैसी बात करती हो जीजी, इतने बरसों पर मिलना हुआ है, तुम भगाओ भी तो मैं जल्दी भागनेवाला नहीं! दस-पंद्रह रोज तो रुकूंगा ही रुकूंगा, जाने कबसे जी तड़प रहा था तुमसे और भैया से मिलने के लिए,' तो फिर भागते राह नहीं मिलेगी! सोच-समझकर बात करनी चाहिए आदमी को. . .

लेकिन सुरेश ने वैसी कोई बात नहीं कही जिसका मुझे डर था. कुछ भी नहीं कहा उसने, कि जैसे उसे सूझ न रहा हो क्या कहे.

रेवा ने बड़े प्यार से चाय की प्याली उसकी तरफ बढ़ाते हुए कहा, "मैं भी ये क्या व्यर्थ का पचड़ा ले बैठी. लो चाय-वाय पियो. घबराओ मत, मैं तुम्हें रोकूंगी नहीं. तुम आ गये, यही मेरे लिए बहुत है. ठीक से नाश्ता-वाश्ता कर लो फिर निकल जाना अपने समय से जहां जाना हो."

तब सुरेश ने बताया कि उसे जायदाद-संबंधी कुछ कागजात पर अपनी बहन के दस्तखत कराने के लिए कानपुर जाना है और अभी घंटे भर में उसे दूसरी गाड़ी मिलेगी.

पता नहीं वो सचमुच कानपुर जाने के लिए ही घर से निकला था या अब यों ही बात बना रहा है क्योंकि, मुझको तो छोड़ ही दीजिए, रेवा के स्वर में भी, सारे सब अपनेपन के बीच भी किसी बहुत गहरे स्तर पर उसे कुछ ऐसा मिला जो बहुत अनुकूल नहीं लगा और उसने यहां से जाना ही ठीक समझा, जो भी बात रही हो नाश्ते के बाद वो फिर और रुका नहीं और हम दोनों के पैर छूकर स्टेशन की राह लगा, गाड़ी का समय हो रहा था.

सुरेश के जाने के बाद उस रोज हम दोनों पता नहीं क्यों सारे दिन एक-दूसरे से आंखें चुराते रहे. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एक बात थी मकान के बारे में, दूसरी बात है— पत्नियां. . .!'

दायें से : सर्वश्री अज्ञेय, गोविंद मिश्र, नरेंद्र शर्मा, चंद्रकांत बांदीवडेकर

पिछले वर्ष प्रारंभ किया गया यह स्तंभ, इस अंक में अपने नये प्रारुप में प्रस्तुत किया जा रहा है. विभिन्न पीढ़ी के कथाकारों में हुई बातचीत के सरोकार के तहत हमारा प्रयास रहता है कि हम पुराने और नये हालात की परख करते हुए परस्पर एक संवाद की स्थिति बना सकें, क्योंकि प्राय: रचनाकारों का मौन यानी संवादहीनता की स्थिति भी साहित्य में सन्नाटा बरपा दिया करती है! —— रचना, रचनाधर्मिता और रचनाकर्म के संदर्भ में इस बार विचार-विमर्श कर रहे हैं——सर्वश्री अज्ञेय, नरेंद्र शर्मा, चंदकांत बांदीवडेकर एवं गोविंद मिश्र

▣ प्रस्तुति : अनिल शर्मा

गोविंद मिश्र : कथा की विधा पर सोचते हुए अक्सर, अमृतलाल नागरजी में जो कथा कहने, कहानी सुनाने, कथा की प्रधानता है. . . . उस पर सोचा करता हूं. उनके उपन्यासों में यह तो नहीं कहा जा सकता कि विचार तत्व कुछ नहीं होता. . . .लेकिन पाठक को कथा जैसे लपेटते हुए ले चलती है. विचार कथा के इर्द-गिर्द चलता है, बहुत ही दबा होता है. . . वहां से हम उपन्यास में यहां पहुंच गये हैं जहां यह खयाल भी नहीं रखा जाता कि पढ़ा भी जा सकेगा क्या. . . या कि सिर्फ चौंकानेवाले प्रयोग. . . . कथ्य के, भाषा के और यह तक चिंता नहीं कि यह चीज कोई पढ़नेवाला है.

नरेंद्र शर्मा : मिश्रजी, देखिए 'गोदान' को पढ़कर. . . होरी को कोई आत्मतुष्टि, आसरा या आधार नहीं मिलता, हालांकि 'राम चरित मानस' राजा के परिवार की कहानी है. लेकिन आज भी होरी की तरह के लोग हैं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वहारा लोग हैं, रामचरित मानस से आधार पा सकते हैं, 'गोदान' से नहीं. लेकिन उन्होंने 'गोदान' क्यों लिखा? जैसे गांधीजी ने व्यापक संवेदना के द्वारा बड़े स्तर पर लोगों की हिस्सेदारी करायी. हमारी संवेदना को सुशिक्षित किया कि देखो तुम इन लोगों के लिए कार्य कर रहे हो. तुम्हारी विशेषता सामान्यता पर न्यौछावर होनी चाहिए. यही कार्य प्रेमचंद ने किया, लेकिन धीरे-धीरे इधर से हमने मुंह मोड़ लिया, और फिर हमने यह देखा कि विशेष जो है वह विशिष्ट बनने की ओर चला गया. विशेषता तो सब में है, पर विशेषता तभी बढ़ती है जब वह सामान्यता की सेवा करे, नहीं तो विशेषता मैनरिज़्म, झक्क आदि बनकर रह जाती है.

गोविंद मिश्र : अच्छा, इसका एक पक्ष और भी है. मैं यह भी देखता हूं कि जो संवेदनात्मक पक्ष है वह लगातार कम होता चला गया और उसकी जगह एक सूखापन... दिमागीपन, दिमाग का हावी होना भावना पर से.... ज्यादा आ गया. इसको कुछ लोग पश्चिम की भी देन मान सकते हैं. क्योंकि ये रैशनलिज़्म से जुड़ती है..... विश्लेषण.....

नरेंद्र शर्मा : व्यक्तिवाद से क्यों नहीं जोड़ते ...व्यापक चीज से जोड़िए.

डा. चंद्रकांत : ये तो ठीक है, लेकिन कुछ साहित्यकार ऐसे भी हो सकते हैं और उनको लिखने का पूरा-पूरा अधिकार है, मेरी राय में कि जो वे एक अनुभव के जटिल रूप को... देखते हैं, उसका संप्रेषण करें. उदाहरण के लिए दोस्तोयेव्स्की के उपन्यासों से हम यह कभी अपेक्षा नहीं कर सकते कि सामान्य पाठक उनको कभी पढ़ेगा और समझेगा, काफ्का ने अपनी कुंठाओं को अभिव्यक्ति दी. उसको पढ़नेवाले भी बहुत कम हैं.

गोविंद मिश्र : अनुभव भले उलझा हुआ हो... संश्लिष्ट हो लेकिन उसकी अभिव्यक्ति....भाषा... ये सरल हो सकते हैं.

नरेंद्र शर्मा : इसका निराकरण इसी बात में हो जाता है कि सर्वसमन्वित और सर्वातिव्यतिरिक्त, दोनों ही चैतन्य हैं, लेकिन आपका यह आग्रह भी गलत है कि व्यतिरिक्त ही रहना चाहिए.

डा. चंद्रकांत : मनुष्य के जीवन का अनुभव इतना व्यापक और इतना वैविध्यपूर्ण है कि जिस प्रकार कुछ अनुभव सब लोगों को साथ लेकर चलेगा, तो कुछ अनुभव ऐसा भी होगा जो एक व्यक्ति का अपना होगा और उतना ही महत्वपूर्ण और मूल्यवान होगा. स्वतंत्रता को लेकर अगर किसी की खोज चल रही है, वह बीच-बीच में इतनी वैयक्तिक होती जायेगी, इतनी जटिल भी होती जायेगी कि हो सकता है बहुत से लोग नहीं समझें. ..मैं साहित्य में इस तरह का आग्रह नहीं मानता.... जैसे विज्ञान में आइंस्टीन के सिद्धांत को सब नहीं समझते. इसलिए.....

गोविंद मिश्र : साहित्य विज्ञान तो नहीं है.... बांदिवडेकरजी, मुझे इसमें दो चीजें कहनी हैं....एक तो यह है कि जब हम विचार को बहुत महत्व देते हैं तो....

डा. चंद्रकांत : आज के जीवन में बगैर विचार के अनुभव करेगा क्या ...?

गोविंद मिश्र : नहीं तो, विचार को प्रधानता देने के पीछे यह आग्रह नहीं है क्या कि हम कोई नयी चीजें बताने जा रहे हैं. नयी चीजें होती हैं पर साहित्य यह नहीं करता, जैसे कि वैज्ञानिक नयी खोजें देने की बात कहता है. साहित्य तो हमें एक अनुभव में ले जाता है.... तो वहां मूल चीज विचार का संप्रेषण नहीं, मूल चीज जीवन के अनुभव को संवेदना में बैठाना है. दूसरी चीज, मैं यह नहीं कहता कि ज्यों-ज्यों जीवन अधिक संश्लिष्ट होगा जीवन की जटिलता बढ़ेगी, उसे नहीं पकड़ना चाहिए. पर जहां आप ऐसे कहने पर आ जायें...फार्म के प्रयोग द्वारा या किसी खास भाषा के द्वारा कि समझ में ही न आये, पठनीय तो दूर की बात है, तो आपने दायरा जानबूझकर बहुत ही संकुचित कर दिया.

डा. चंद्रकांत : इसमें वैयक्तिकता नहीं है, वह तो बोली... भाषा का प्रयोग हुआ.

गोविंद मिश्र : पर पाठक को तो पूरी तरह गोल कर दिया!

डा. चंद्रकांत : बात पाठक को गोल करने की नहीं है, अनुभव को विशिष्ट रूप से व्यक्त करने की है. हो सकता है बहुत से लोग उनको न समझें. ...और ये जो अनुभव के सब तक पहुंचने की बात है, मुझे लगता है कि इस पर विचार इस तरह से करना चाहिए कि एक स्तर ऐसा रहेगा... जो ज्यादा चेतना से संपन्न होगा, ज्यादा समझदार भी होगा उनके बीच में जो बात चलेगी वो सबके बीच तक नहीं जा सकती.

नरेंद्र शर्मा : इस चीज से मुझे आपत्ति है कि ज्यादा चेतन और ज्यादा समझदार. मेरी समझ में ज्यादा समझदार तो तुलसी दास थे, जो सरल थे, सर्वसमन्वित थे, ज्यादा चेतन भी थे. आप यह सोचें कि आज का जो, अपने को तीसमारखां समझकर, सुर्खाब का पर लगाकर सबसे अलग होता है, तो वही ज्यादा चेतन है तो यह बात आपकी अत्यंत नासमझदारी की है...(हंसी)

डा. चंद्रकांत : तुलसी दासजी, जो राम चरित मानस में कथा को लेकर चलते हैं, वहीं 'विनय-पत्रिका' में अपने मन के उद्गार व्यक्त करते हैं. 'विनय पत्रिका' में बहुत सारा अंश बहुत कम लोग समझते हैं. मैं समझता हूं पुराने साहित्य को ही ले लें तो बहुत-सा साहित्य ऐसा है जो बहुत कम लोगों की समझ में आता है.

नरेंद्र शर्मा : लेकिन यह तो मूल्य नहीं है...

गोविंद मिश्र : अज्ञेयजी, आपके संदर्भ में व्यक्तिवादी होने की बात लोग बार-बार कहते रहे हैं...आप क्या सोचते हैं. वैयक्तिकता को किस हद तक, विचार तो...

अज्ञेय : मुझे एक बात समझ में नहीं आयी. नरेंद्रजी एक तरफ तो कहते हैं, यह मूल्य नहीं है; साथ ही उनका आग्रह है कि विपरीत जो है...वह मूल्य है.

नरेंद्र शर्मा : नहीं, मैं यह नहीं कहता. सर्व समन्वित में अगर छिछलापन है तो कुछ मतलब नहीं हुआ उसका. मूल्य क्या है. ... इंट्रिंजिक एक्सपीरियंस, वन नैस का और उसको सुंदर अभिव्यक्ति...पूर्ण अभिव्यक्ति... मूल्य यह है. मूल्य यह नहीं कि सर्वसमन्वित है तो व्यर्थ हो गया... या यह है तो सार्थक हो गया. और चेतन का जो आपने कहा वह सबसे खतरनाक चीज है.

डा. चंद्रकांत : मैं यह कहना चाहता था कि साहित्य का कुछ अनुभव ऐसा अवश्य रहेगा जिसको साझा करनेवाले कम होंगे.

नरेंद्र शर्मा : ठीक है... हंसा जाये अकेला और हंसा आये अकेला...बिल्कुल ठीक है... लेकिन मूल्य....

गोविंद मिश्र : मैं जिस बात की तरफ लाने की कोशिश कर रहा था, वह यह है कि हम कैसे धीरे-धीरे साहित्य के प्रभाव क्षेत्र को सीमित करते चले गये हैं. अगर यही सिलसिला चला तो कल साहित्य पर ही प्रश्नचिन्ह लगाया जाने लगेगा.

अज्ञेय : गोविंदजी, यह बात तब ठीक होती अगर आप यह मानते, जैसा कि मैं नहीं मानता कि जो सीमित अनुभव का क्षेत्र है वह बड़े क्षेत्र के साथ जुड़ नहीं रहा या कि ऐसा कोई आग्रह लेखक का है. जो भी लोग छोटे प्रदेशों की बोली लाते हैं साहित्य में, यह नहीं है कि वे हिंदी को विकृत करते हैं या कि उनका उद्देश्य अपने को छोटे तक सीमित करना है. उनमें यह पहचान है कि हम लोग जो हिंदी अब तक लिखते आये हैं, उस हिंदी में हम लोग जीते नहीं हैं. हमारा कोई अनुभव उस भाषा में नहीं होता और इसलिए अनुभव के निकटतम जाने के लिए हम उस भाषा में जायें, जो कि वास्तव में उसके साथ जुड़ी हुई है. यह ठीक है उसका एक परिणाम यह होगा कि आपका क्षेत्र सीमित हो जायेगा, लेकिन उस सीमित क्षेत्र की एक गहरी पहचान आप फिर उस बड़ी हिंदी के साथ जोड़ रहे होंगे. यह नहीं कि आप उससे उसको काट रहे हैं.

गोविंद मिश्र : भाषा भर की बात नहीं है. संवेदना से हटने और दिमागी कसरत की तरफ जो लेखक चला जा रहा है....

अज्ञेय : यह क्यों नहीं मानते कि विचार से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

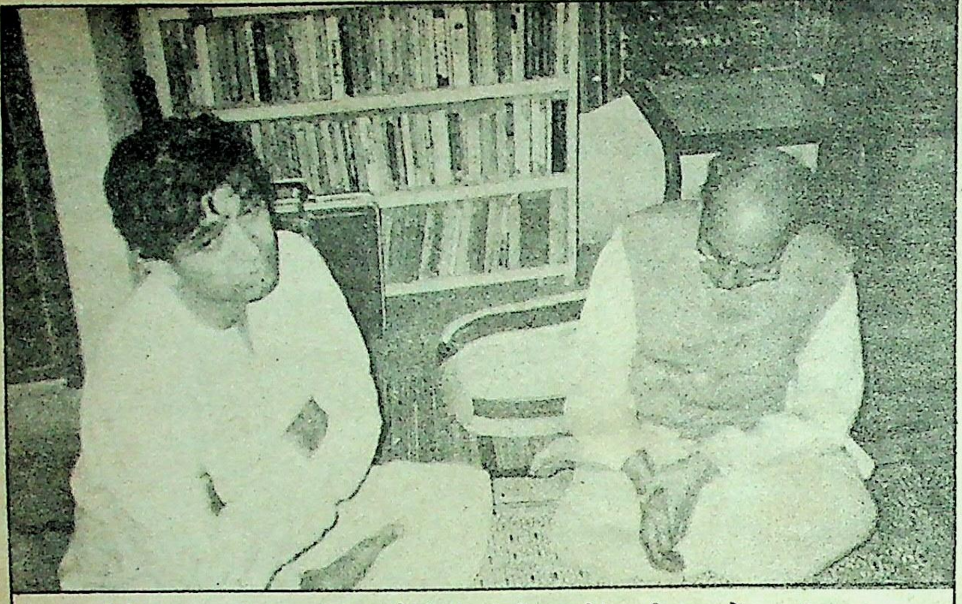

'संवेदना का संकुचन हो गया है!'–(बायें से) : गोविंद मिश्र, नरेंद्र शर्मा

संवेदना का विस्तार हो रहा है. . कि नये आयाम उसमें जोड़े जा रहे हैं ? वह अपने-आप में पूरा नहीं है. लेकिन वह एक नयी चीज जोड़ रहा है. पूर्ण नहीं है, पूरक है.

गोविंद मिश्र : आज एक खतरा और है. हमारे जमाने में इस बात पर ज्यादा जोर हो गया है कि क्या मिलता है. मार्क्सवादी और प्रगतिवादी विचारधारा ने भी ठोस पर इतना बल दिया कि लेखक भी सोचने लगा है कि मुझे ठोस क्या मिलता है. तो अगर पाने की हवस बढ़ती जायेगी. . . .तो इस सब में लिखना या विशुद्ध साहित्य वह जारी भी रह सकेगा?

डा. चंद्रकांत : जारी रहेगा या नहीं इसमें शंका हो सकती है. क्योंकि टेलीविजन या सिनेमा जैसे माध्यमों के कारण एकांत में बैठकर पढ़ने की रुचि कम है.

गोविंद मिश्र : यह तो सारे संसार की ही समस्या होगी. प्रचार साधन तो सब जगह बढ़े हैं और लोगों का पढ़ना योरुप में. . . सब जगह भी कम हुआ होगा.

अज्ञेय : शायद कम हो जाये. यह बहस तो वहां भी होती है. . . पर पढ़ना तो कम नहीं हुआ. वहां अब भी लोग सोचते हैं कि पुस्तक समाप्त होनेवाली नहीं है, क्योंकि श्रव्य माध्यम के साथ संबंध दूसरी तरह का है. जैसे यह चिंता हुई थी कि फिल्म के आने से नाटक समाप्त हो जायेगा, पर नाटक के साथ संबंध दूसरा है. उसी तरह पुस्तक के साथ दूसरा संबंध है. पुस्तक में, कहीं भी आपके मन में कोई विचार उठता है, या भाव उठता है तो पुस्तक को रखकर आप सोच सकते हैं. इन माध्यमों में यह सुविधा नहीं है. कोई बात आपने ठीक नहीं सुनी, उसको दुबारा सुनना चाहते हैं. . .या संशोधन करना चाहते हैं तो यह सुविधा मीडिया में नहीं है. पुस्तक के साथ संबंध दूसरा है. पुस्तक में आप पृष्ठ देखते हुए एक पंक्ति पढ़ते हैं तो उसके आगे-पीछे का एक निचले स्तर पर आपको कुछ न कुछ बोध बना रहता है कि आगे क्या है; उसकी दूसरी अपेक्षाएं बनी रहती हैं. ये सुविधाएं रेडियो या टी.वी. नहीं देता. उसमें भी अपेक्षाएं बनती हैं, लेकिन इस आधार पर नहीं बनतीं.

गोविंद मिश्र : एक बात और. . . यह सारे माध्यम शोर पर आधारित हैं. धीरे-धीरे जैसे-जैसे यह बढ़ता जायेगा तो आदमी के अंदर दूसरी बेचैनी एकांत. . . शांत होकर फिर कहीं संप्रेषण-सुख प्राप्त करने की भी बढ़ेगी जो फिर उसे पुस्तक पर ही लायेगी.

अज्ञेय : रेडियो. . .और टी. वी. भी. . .अब सुनने के लिए वैसा माध्यम नहीं रहा. लेकिन जो दूसरे बाहर के शोर हैं उनको दबाने के लिए कुछ कम अप्रीतिकर एक शोर बराबर होता रहे, इसलिए रेडियो चलता रहता है.

गोविंद मिश्र : कुछ-कुछ उसी तरह जैसे बंबई में बाहर के शोर को दबाने के लिए लोग एयरकंडीशनर लगाते हैं. . (समवेत हंसी)

नरेंद्र शर्मा : मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि जहां तक पढ़ना है, विचार करना है, अपनी रुचि का साहित्य पढ़ना. . . यह कभी नहीं जा सकता. मैं यह नहीं मानता कि पुस्तक के माध्यम से साहित्य तक पहुंचना लोगों तक. . . यह बंद हो जायेगा पर यह जरूर है कि कुछ लोग 'जो आसन पर डोल जाते है' वे इन माध्यमों से प्रभावित हो जाते हैं और उनके साहित्य पर उनका खराब प्रभाव भी दिखायी देने लगता है.

डा. चंद्रकांत : एक बात यह भी है कि पाठक-वर्ग बढ़ रहा है. मैंने देखा कि जो सड़क पर पत्थर कूटनेवाली औरत है वह भी चार आने आठ आने की पत्रिका लेकर पढ़ रही है.

गोविंद मिश्र : वह रद्दी किस्म का लेखन होता है बांदिवडेकरजी.

डा. चंद्रकांत : देखिए, वह और क्या पढ़ सकती है, वह रोटी के अलावा आनंद की और कोई चीज जान तो रही है !

गोविंद मिश्र : हो सकता है वह उसे कलुषित ही कर रहा हो.

नरेंद्र शर्मा : जीवन के हर विभाग के बारे में ह्रास की परंपरा तो निरंतर है. गुण की जगह संख्या लेती जा रही है.

गोविंद मिश्र : आजकल बच्चे ज्यादा पढ़ते हैं. . . हम उतना नहीं पढ़ते थे. . . पर क्या पढ़ते है वे. . . कामिक्स, थ्रिलर्स. . .

डा. चंद्रकांत : पर क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि एक उम्र होती है थ्रिल की. . .

नरेंद्र शर्मा : बात यह नहीं है. . . यह है प्रिडिजैस्टेड लिटरेचर, जैसे प्रिडिजैस्टेड फूड आये है. यह कौमिक-औमिक वही है.

डा. चंद्रकांत : लेकिन हम बच्चों को और देते भी क्या हैं !

गोविंद मिश्र : हां. . . यह बात है नरेंद्र-जी. हमारे बड़े-बड़े लेखक बच्चों के लिए लिखने को कुछ हेय. . . .

नरेंद्र शर्मा : यह लेखक का अपराध मैं नहीं मानता. सबसे बड़ा अपराध-सोशियोलॉजी का है. आज के मां-बाप को कामधाम, धन कमाने, या प्रतिष्ठा-प्रभाव बनाये रखने से, अपने कार्यालय, क्लबों से छुट्टी नहीं है, हम आज बच्चों को संवेदना ही नहीं देते, समय ही नहीं देते. . जैसा हमारे बड़ों ने हमको दिया था.

अज्ञेय : नरेंद्रजी, यह सारी बहस जैसे कोई अपराधी खोजने की है. वह नहीं दे सकते तो क्यों नहीं दे सकते. . .?

नरेंद्र शर्मा : यही तो कह रहा हूं. . . . पर इसमें साहित्यकार का दोष नहीं है.

अज्ञेय : यह तो मैं मानता हूं कि इसमें साहित्यकार का दोष नहीं है. लेकिन इस पूरी परिस्थिति में से उसके लिए भी एक ऐसी स्थिति बनती है, जिसमें साहित्यकार भी कुछ नहीं कर सकता.

गोविंद मिश्र : मैं साहित्यकार को दोषी मानता हूं. साहित्यकारों को बच्चों के लिए कुछ न कुछ लिखना चाहिए. हम लोग जिस रफ्तार से सेमिनार, संगोष्ठियां, सम्मेलन. . . और जैसे यहां बातचीत ही कर रहे हैं. . . इस सब में तो हमें रुचि है, यह नहीं कि कभी अपने विशिष्ट धरातल से उतरकर बच्चों के लिए कुछ. . .

नरेंद्र शर्मा : यहां की बातचीत में सौभाग्यवश वह बात नहीं है, जो सम्मेलन आदि में दिखावा और आपे से बाहर होने जैसी चीज होती है, तो ऐसी बातचीत उस श्रेणी में नहीं आती. . .

गोविंद मिश्र : अच्छा, सौभाग्य से आप दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

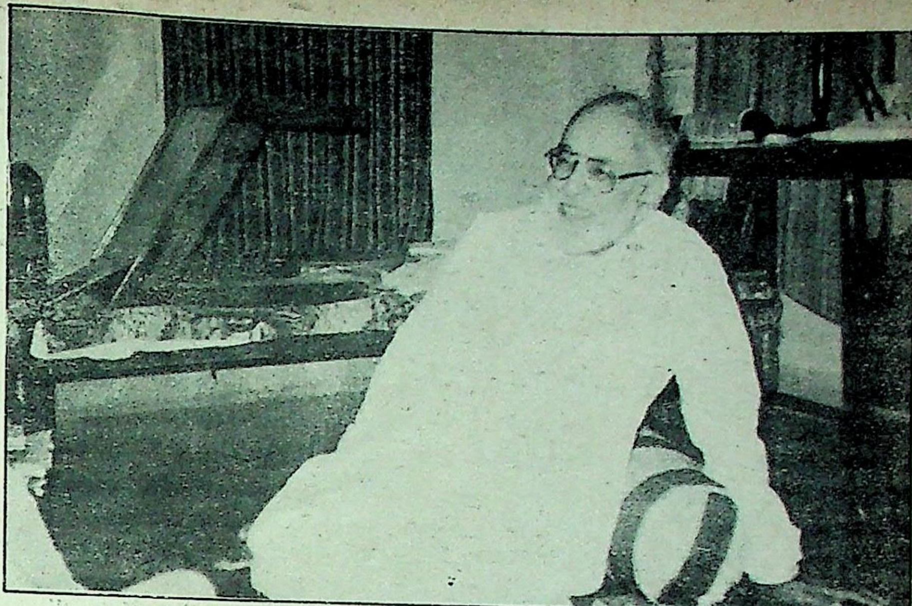

'मुझको विवाद में उलझना पड़ेगा. . .!'—अज्ञेय

लोग हमारे बीच पुरानी पीढ़ी के हैं. आपने पहले का भी समय देखा है और अब का भी समय देखा है. बाद के लोग साहित्य को आगे लाये हैं, पीछे ले जा रहे हैं या वहीं उछलकूद कर रहे हैं. आप क्या सोचते हैं?

नरेंद्र शर्मा : कुछ लोगों ने बहुत अच्छा काम किया है, गुणवत्ता भी है परंतु उसमें एक धारा ऐसी दीखती है वहां साहित्य व्यतिरिक्त होकर के अनुभवों को विरल स्तरों पर अभिव्यक्त करना चाहता है, और इस बात की अपेक्षा नहीं रखता कि ताली बजने की स्थिति प्राप्त होगी या नहीं. . . ढांचा तो आज का बहुत पुष्ट है.

अज्ञेय : परिवर्तन तो आये, भाषा में भी आये. . . भाषा के साथ परिवर्तन अच्छे नहीं हुए, लेकिन विधाओं में विकास कुछ हुआ. . .

गोविंद मिश्र : भाषा में लेखकों की लापरवाही नजर आती है ?

अज्ञेय : हां.

गोविंद मिश्र : इसकी एक वजह तो यह हो सकती है कि आज के लेखक एक तरफ न तो संस्कृत की धारा से जुड़े हैं न उर्दू ही ठीक से जानते हैं.

अज्ञेय : किसी भी भाषा की परंपरा या संस्कार नहीं है. शिक्षा का भी बहुत बड़ा दोष है. हमारे समय में यह मानते थे कि संस्कृत से भी परिचय होना चाहिए और उर्दू की पृष्ठभूमि भी होनी चाहिए. यह नहीं मानते थे कि उर्दू जानने से हिंदी का कोई अहित होता है, या कि संस्कृत जानने-समझने से, उसके शब्दों का सही प्रयोग करने से, भाषा बिगड़ती है.

नरेंद्र शर्मा : हमारा कोष ज्ञान उतना नहीं है. एक दि सैंस आफ एप्रीशियेटेड वर्ड होता है. . . वह कम हो गया.

गोविंद मिश्र : भाषाई संवेदना. . .

अज्ञेय : वह तो काफी कम हो गयी. हम बात को इस तरह रखकर देखें कि आज, सन् 84 में, गद्य के कौन अच्छे लेखक सामने दिखते हैं, और 64 में कौन दीखते थे, 54 में कौन और अगर वही-वही लेखक सामने आते हैं तो जरूर चिंता होनी चाहिए.

गोविंद मिश्र : नये तो बराबर आते रहे हैं. . . शायद यह होता है कि हम लोग परिचित नामों को ही पढ़ने के आदी होते हैं, इसीलिए लगता है कि वही-वही नाम सामने आते रहते हैं.

अज्ञेय : यह बात एक हद तक होती है कि कि हर पीढ़ी का आलोचक या कि पाठक उस अपनी पीढ़ी के साहित्य को दूसरी तरह से देखता है, उसके पहले के लिए कुछ दूसरी तरह का भाव रखता है लेकिन उनमें भी. . .अगर वे भी पहले के लेखकों का ही नाम लेते हों तो. . .

गोविंद मिश्र : इसके पीछे एक बड़ी मानवीय. . .क्या कहें, एक मामूली बात यह होती है कि जब हमने लिखना शुरू नहीं किया होता है तो जो प्रतिष्ठित साहित्यकार होते हैं उनके प्रति एक विशेष ललक हमारे मन में होती है. वह ललक इतनी ज्यादा बैठी होती है कि जब आप भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं तो जाती नहीं है. और यह शायद हर पीढ़ी के साथ होता होगा. आपके मन में भी अपनी पुरानी पीढ़ी के प्रति यह भाव होगा. उस हिसाब से हमारा जितना संपर्क पुरानी पीढ़ी से होता है परवर्ती नहीं होता, कुछ लोगों का हो सकता . . . हम पूर्ववर्ती पीढ़ी की सारी चीजें पढ़े होंगे, बाद की नहीं . . .

अज्ञेय : यह तो स्वाभाविक है. परवर्ती पीढ़ी से उतना नहीं होगा. लेकिन आप तो इस पक्ष से बात करते हैं. दूसरी तरफ से भी देखिए. आज का नया लेखक, हमारे समय के नये लेखक की तुलना में अपने पहले के लेखकों के प्रति कहीं ज्यादा असम्मान का भाव रखता है. इसके बावजूद जब मूल्यांकन करने लगता है तब अपनी से पहली पीढ़ी के साहित्यकार का ही नाम लेता है. तब उस बात का महत्व कुछ अधिक हो जाता है. हम अगर अपने से पहले कवि की प्रशंसा में कुछ कह देते तो उस कारण कुछ यह भी हो सकता कि उस समय का शिष्टाचार ही यही था.

गोविंद मिश्र : आज कुछ परेशानी-सी मुझे उपन्यास को लेकर है कि जिस तरीके से पहले उपन्यासकार प्रेमचंद या कि अमृतलाल नागर के ही एक के बाद एक उपन्यास आते चले जाते थे, आज एक तरफ उपन्यास लिखनेवाले ही कम हो गये हैं और जो लिखते हैं तो तीन-चार उपन्यासों के बाद जैसे उनका दम ही खत्म होता दिखता है.

अज्ञेय : हां, यह भी एक बात है. (अब आपने भी नागरजी का नाम लिया!) पर बात संख्या की दृष्टि से सही नहीं है. संख्या की बात है तो आज उपन्यास लिखनेवालों की संख्या कम नहीं है. पहला उपन्यास ही कभी-कभी इस कोटि का आता है जिससे कि बहुत बड़ी आपकी अपेक्षाएं बनें. पर फिर बहुत जल्दी चुक जाते हैं.

गोविंद मिश्र : ये किस वजह से है. या तो हम अपनी संवेदना को निरंतर परिष्कृत नहीं करते हैं क्योंकि अनुभव आपके चुक जाते हैं, लेकिन अनुभव तो पहले जमाने में भी हर साहित्यकार की एक सीमित पूंजी ही थी, उसके बाद वह अपनी संवेदना को निरंतर परिष्कृत करता हुआ. . . .

नरेंद्र शर्मा : बस, यही बात जो आपने कही. अनुभव नहीं चुकता. अनुभव तो वही होगा. अनुभव की निधि निरंतर बढ़ती रहे, ऐसा नहीं होता, हां संवेदना चुक जाती है.

अज्ञेय : संवेदना चुक जाती है तो अनुभव के प्रति खुलापन भी समाप्त हो जाता है. आप फिर अनुभवों का भी और संचय नहीं करते. एक तो मैं समझता हूं कि इस समय आलोचना की काफी दुर्गति है और नया उपन्यासकार या कहानी लेखक. . .एक तरफ तो उसे लगता है कि मुझे सहानुभूति कम मिलती है, समर्थन कम मिलेगा, मुझको अपना एक गुट बनाकर आगे बढ़ना चाहिए. हमारे समय में और उससे पहले ऐसा नहीं था. यह नहीं कि गुट नहीं होते थे. लेकिन शुरू से ही यह प्रवृत्ति हो कि हम चार आदमी को साथ लेकर, हल्ला मचाते हुए आगे बढ़ें. . .ऐसा नहीं था. और सारे संसार को अपना एक प्रतिद्वंद्वी मानकर भी साहित्यकार आगे नहीं आता था. आज काफी यह है. और फिर जो प्रशंसा मिलती है वह इतनी जल्दी और इतनी अधिक मिल जाती है कि फिर लेखक की ग्रहणशीलता समाप्त हो जाती है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul K

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

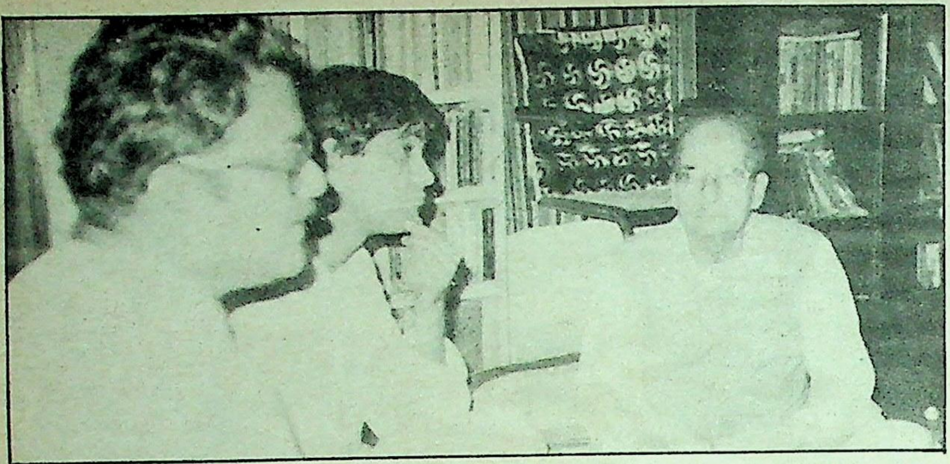

'रोटी के अलावा आनंद की कोई और चीज . . .!' बायें चंद्रकांत, गोविंद मिश्र नरेंद्र शर्मा

डा. चंद्रकांत : आप लोगों को प्रशंसा कैसे और कब मिली?

नरेंद्र शर्मा : मुझको तो जितना अधिकार था उससे ज्यादा ही और जल्दी मिल गयी. जैसे मेरा 'प्रवासी का गीत' संग्रह छपा तो जरूरत से ज्यादा मिल गयी प्रसिद्धि, लेकिन भगवान की कृपा से मैंने अपने-आपको कभी नहीं लगाया ज्यादा और न अब भी लगाता हूं. यही मुझे एक बचानेवाली चीज रही.

अज्ञेय : मेरे साथ तो दोनों तरह की बातें रही हैं. कुछ एकदम शुरू में तो बहुत अधिक प्रशंसा मिली, यानी कि मैं तो जेल में ही था जब पहली कुछ रचनाएं छपीं या कि संपादकों के द्वारा देखी गयी और 'विपथगा' की छह-सात कहानियों की हस्तलिपि देखकर ही बनारसीदासजी ने विशाल भारत में 4-5 पेज की एक समीक्षा लिख दी बहुत प्रशंसा करते हुए. . .इतनी कि मैंने उसका विरोध किया. मैंने कहा, यह तो आप अहित कर रहे हैं.

नरेंद्र शर्मा : लेकिन चौबेजी का स्वभाव ही ऐसा था. उनमें संतुलन था ही नहीं. किसी को रगड़ दें या किसी को आसमान पर उठा दें. और उससे नुकसान तो होता था, सच्ची बात है.

अज्ञेय : लेकिन उसके बाद फिर खूब मार पड़ी. 'शेखर' निकला तो सभा करके जला दिया गया. अभी तक काफी . . .

गोविंद मिश्र : लेकिन आपके जमाने में कम से कम पुरानी पीढ़ी के लोग नयों पर लिखते थे और अब मैं देखता हूं कि बहुत कम प्रतिष्ठित लोग बाद के लोगों पर लिखते हैं.

अज्ञेय : यह चिंता हो सकती है कि अगर मैं समीक्षा लिखता हूं. नयी चीजों की तो विवादास्पद बातें हो सकती हैं; मुझको विवाद में उलझना पड़ेगा. इसलिए अपने काम के लिए कम समय मिलेगा. चिंता अनुचित तो नहीं होगी. इसलिए अगर वे समीक्षाएं लिखकर प्रकाशित न भी करें तो मुझे ज्यादा दोष नहीं दिखायी देता. लेकिन नया लेखक यदि उनकी राय चाहता है तो वे खरी और सद्भाव से सलाह दें, यह तो उनका कर्तव्य मानता हूं. आज यह भी कोई नहीं देता.

नरेंद्र शर्मा : मैं फिर वही बात . . . कहूंगा संवेदना का संकुचन हो गया . . . अच्छा मिश्र-जी, एक बात कहूं कि जो पहले के लेखकों का आपने नाम लिया न कि उन्होंने बहुत लिखा और चुके नहीं तो वो इतने बहुधंधी नहीं थे जितने आज के लेखक हैं. आज इने-गिने आपको मिलेंगे लेखक कि जिनका काम ही लिखना है.

गोविंद मिश्र : ये तो आर्थिक परिस्थितियों की वजह से . . .

नरेंद्र शर्मा : नहीं-नहीं, परिस्थितियां तो तब भी विषम थीं लेकिन आज का लेखक जो है उसको बहुधंधी होने की . . . जिसको बाध्य होना . . . वह नहीं . . .

अज्ञेय : नरेंद्रजी, पहले भी ऐसे लेखक तो कम ही थे जो लेखक थे. वे भी बहुधंधी थे और लिखते थे.

नरेंद्र शर्मा : देखिए न . . . जैसे प्रेमचंदजी तो पूरी तरह से यही काम करते थे. छायावाद के प्रमुख कवियों ने भी अपना वैयक्तिक जीवन, गृहस्थिक जीवन और आजीवका विषयक जीवन तीनों चौपट किया . . .

गोविंद मिश्र : आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता की तलाश जो कि आज का लेखक करता है . . . हमारे बहुत सारे लेखक ऐसे हैं जो आर्थिक रूप से कहीं जम नहीं पाते, तो वो बस 4-5 कहानियां या कविताएं लिखकर इसमें लग जाते हैं. तोड़ देता है उन्हें आजीविका का संघर्ष.

नरेंद्र शर्मा : मिश्रजी, आर्थिक संघर्ष नहीं, अपेक्षाएं बदल गयी हैं.

डा चंद्रकांत : नरेंद्रजी, आपके जमाने में किराये पर घर मिलना मुश्किल नहीं होता था. आज तो बंबई में एक कमरा लेना हो तो एक लाख होना चाहिए . . . कैसे आदमी क्या करेगा?

अज्ञेय : जो बंबई आता है पैसा कमाने आता है (हंसी) यह भी तो सोचता है दस लाख रुपया कहीं न कहीं से बना ही लूंगा तो एक लाख . . .

गोविंद मिश्र : अगर कविता या कहानी लिखना हो तो बंबई ही आने की बाध्यता क्या है. यह सही है कि कुछ हमारे लालच भी बढ़ गये हैं. जो लेखक आर्थिक रूप से ठीक-ठाक है, उनको देखिए . . . उन्हें क्या कारण है कि वो कम लिखते हैं. दुनियाभर की जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं.

नरेंद्र शर्मा : बस . . . अपेक्षाएं . . .

गोविंद मिश्र : नरेंद्रजी, आप भी तो इस नगरी में कब से रह रहे हैं . . . आप जोड़-तोड़ में नहीं फंसे . . .

नरेंद्र शर्मा : मैंने सूत्र बताया न कि मैंने अपने-आपको बहुत लगाया ही नहीं, इसलिए मैं बंबइया बनने से बचा रह गया . . .

गोविंद मिश्र : किसी चीज में नहीं?

नरेंद्र शर्मा : नहीं, वो तो है. अपना एक साहित्य . . . वह तो तार सच्चा ही रहना चाहिए बाकी तो अपने को कोई मतलब नहीं. उससे क्या उपलब्धि होगी या हमारी प्रसिद्धि क्या होती है. हमारी कविताओं की किताब कौन छापता है . . . भगवान की कृपा से हमें चिंता नहीं. अपेक्षा रखना बहुत दुख पाना है. कोई आदमी सच्चाई के साथ लिखे, यह बहुत बड़ी बात है. ये कोई छोटी चीज नहीं है आज के समय में. संवेदनशील लेखन, चैतन्य लेखन . . . उसकी जरूरत क्या है, किसे है, आज इसका मूल्य क्या है?

गोविंद मिश्र : आज लिखने की शक्ति, आस्था लेखक को सिर्फ अपने भीतर ही ढूंढनी पड़ती है . . . तभी वह लिख पाता है. मैं समझता हूं, इतना आप लोगों के जमाने में नहीं था, आज संवेदनात्मक लेखन के लिए जितना संघर्ष है और शायद हमारे बाद की पीढ़ी में और ज्यादा हो गया है . . . उसमें लेखन के प्रति अपनी आस्था बनाये रखना ही एक बहुत बड़ी बात हो गयी है.

नरेंद्र शर्मा : आप बिल्कुल सच कह रहे हैं. जब हम उदीयमान कवि थे तो अपने तो किसी लायक थे नहीं, लेकिन बड़े-बड़े लायक लोगों से जितना प्यार मिला, जितना सान्निध्य मिला, जितना उन्होंने हमारी तरफ ध्यान दिया उसके हम अधिकारी ही नहीं थे. बहुत सहज भाव से मिल गया.

डा चंद्रकांत : एक बात थी मकान के बारे में, दूसरी बात है पत्नियां . . . आपके समय में उनमें समर्पण था लेकिन आज आप देखेंगे कि स्त्री चाहती है कि उसकी ओर ध्यान दिया जाये.

नरेंद्र शर्मा : क्यों न ध्यान दिया जाये, काहे को शादी की . . .! ◻

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहावत है कि 'बुभुक्षतां किं न करोति पुंसाम्' सो वर्ण व्यवस्था के लौह शिकंजे में कसे हुए भारतीय समाज में उच्च समझे जाने वाले गरीब ब्राह्मण भी क्या-क्या नहीं करने के लिए मजबूर हो जाते लेकिन ऐसी क्या मजबूरी आ टपकती है कि बड़े प्यार और श्रम से पाली गयी अपनी जारज संतान को एक ब्राह्मण पिता ऐसा शाप दे बैठता है जैसा कि कोई आदमी अपने जानी दुश्मन को भी न दे! प्रस्तुत है एक मर्मस्पर्शी कथा--

एक्कहवा पांडे

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

आज से अस्सी साल पहले गंवई गांव में एक कुलीन ब्राह्मण का इक्का चलाना, घोड़े को खरेहरा करना, मलना, दाना डालना, उठी मुखमुद्रा, चाल-ढाल से घर से कुछ ही दूर बहती जमुना में नहलाना, पानी पिलाना, गांव के सवर्ण जनां को कैसा विस्मयजनक, कुछ-कुछ आघातकारी लगता रहा होगा, उसने उनके नील रक्त की सहज धारणाओं को कितना मटकाया होगा, इसकी कल्पना कठिन है. आज उनका एक्कहवा पांडे होना वैसा ही है, जैसा किसी भूले-बिसरे शब्द का फिर से याद आ जाना. पर तब से बीस विस्वा जाति-मर्यादावाले सीताराम पांडेय एक्कहवा पांडेय के नाम से जीवन भर जाने जाते रहे. इक्का चलाना तो उन्होंने न जाने कितने दशक पहले बंद कर दिया होगा, पर यह सवारीनुमा विशेषण उनके साथ मरते दम तक लगा रहा---भले इक्का-घोड़ा बेचने के बाद उन्होंने जीवन में तरह-तरह के काम किये. पत्नी के मरने पर दूसरा विवाह किया और बच्चों की संख्या लगातार बढ़ते जाने से उन्हें छोटी-मोटी ग्रामीण नौकरी, बयाई, अधिया पर दूसरों से ली गयी खेती-किसानी, लठैती, जमींदार की लगान-वसूली क्या-क्या नहीं करना पड़ा! खेत और जमीन को लेकर मुंशी, पेशकार, पटवारी के यहां दौड़ लगायी, सरिश्तेदार और नायब तहसीलदार की कचहरी के चक्कर काटे. और तो और थाने के छोटे दरोगा और दीवानजी के हुक्म पर गवाहियां

CC-0. In Public Domain. Gurukul K...

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देकर इतनी बड़ी गृहस्थी का जुगाड़ किया. जीवन के चक्र को तो चलाना ही था.

एक्कहवा पांडे का पित्ता रामसहाय गांव के एक गल्ला व्यापारी की गोदाम में चौकीदार था. शाम होते ही उसकी आंखें गांजे के जोम से करौंदे की तरह लाल हो चलती थीं. बरसात की तरबतर, कड़कती ठंड की ठिठुरती और गर्मी की निद्राहीन उमस-अकुलायी रातों में वह लाठी खटखटाते हुए अहातानुमा बड़ी आढ़त के चारों ओर चक्कर काटा करता. अंधेरे में भी तारों की झलझल परछाइयों में सब कुछ देख लेनेवाली अपनी चुंधियायी आंखों से वह उस बड़े काले सांप को ही न देख पाया, जो बिना फुफकार के झपटकर उसके नंगे पैरों में काटकर अंधकार में एकाकार हुई मांदों की भरी जमुना की ओर सरसराता चला गया था. थमे बादलों वाली धुली-मंजी, सूजी सुबह में जमुना नहाने जानेवाले गांव के लोगों ने एक ठंडी सिहरन के साथ रामसहाय के काले पड़ गये शरीर को आढ़त के चबूतरे पर पड़ा देखा था, जिसकी चौकीदारी जीवन भर करते हुए उसने अपनी मिट्टी भी उसे सौंप दी थी.

सीताराम तब दस साल का था. उसे लगता था—समय एक छोटे चक्कर की तरह सिमट गया है. घर में एक जून खाना बनता. चक्की चलने की नौबत अक्सर आते-आते भी न आती. हर रात लंबी होकर दूसरी रात के सिरे छूने आ जाती. अधेड़ होने से अभी काफी दूर मां तीन बच्चों को पालते-पालते इतनी जल्द बदल गयी. उसकी आंखों में गोरसी पर चढ़े दूध जैसा उबाल आने लगा—वही उफनाहट भरी छलकें. बच्चों से दूर उसका मन न जाने कहां टंगा रहता. जिस बिलखती मां की सिसकियां हवा में सीपियों की तरह तैरती थीं, वह अब गयादीन घाटिया के घर आते ही आंखों में आमन्त्रण की थिरकनें बटोरने लगतीं. दिन में ढेर सारे लाई-बतासे देकर बच्चों को बाहर के ओसारे में खेलने को कहती—खुद बीच की सांकल बंद किये आंगन की दूसरी तरफ कोठरी में घुसी रहती. घाटिया चाचा बाहर आता तो पीछे-पीछे निढाल बाहें फैलाये सुस्ती छोड़ती, अपने को ही ओढ़ती, रौंदी पयाल जैसी दरवाजे तक आती. घाटिया तीनों को एक-एक पैसा देकर पुचकारता निकल जाता.

एक रात सीताराम ने बगल की खटिया पर न जाने कैसी उलट-पुलट से जागकर दोनों की बातें सुन ली थीं. तेल के मुरझाये प्रकाश में उससे सटी मां कह रही थी, "यह काढ़ा तो जहर है. मैं न पिऊंगी. जब देखो तब यही!" चाचा ने उसे और चिपटाते हुए कहा था, "पीना ही पड़ता है. ठहरने का नाम नहीं लेता. . ." कहते-कहते वह मां के खुले पेट पर हाथ फेरता रहा.

मां ने मचलकर कहा था, "मैं न पियूंगी. . . चाहे जो हो जाये. जितना सुख देते नहीं, उससे ज्यादा जब देखो तब यह दुख. . . मैं नहीं पियूंगी."

चाचा घंटे दो घंटे बाद चला गया. मां सांकल लगाकर सो गयी, पर सीताराम को बाकी रात नींद न आयी. डर से मुरझाई पर भीतर से उसी सबके लिए उत्कंठित मां जब देखो तब यही करती पियराती-पियराती जब पिघल-पिघलकर चल बसी, तब तक सीताराम जवान होकर छोटे भाइयों की देख-संभाल करने लायक हो चुका था. सब कुछ जानकर भी घाटिया चाचा के प्रति न उसे कभी कोई घृणा थी और न मां के प्रति विरक्ति. गयादीन के कोई औलाद न थी. हीन कोटि का होने के कारण उसका विवाह हुआ ही न था. उसने अपना धर्म निबाहा. रखैल विधवा ब्राह्मणी के लड़कों की हर तरह मदद की.

पर सीताराम के मन की नाव को यह सब जनम भर ठेलता रहा, उसकी नसों में चक्कर लगाता रहा. मां की याद आते ही यदि एक ओर उसका व्यभिचरित आमोद-तृप्त रूप याद आता तो दूसरी ओर रक्तस्राव से लगातार छीजती गयी करुण मुखाकृति और भीतर-बाहर से रौंदी काया, जो पहले कितनी हृष्ट-पुष्ट, सुंदर, सजीली थी. पेट के कलंक की कभी जिसने पलने ही न दिया कि लोग उंगलियां उठाकर उसके लहंगे के वैधव्य के दाग गिन सकें. हर बार अपनी कोख का दम घोटकर जिसने समाज की आंखों में अपने स्त्रीत्व की पत मूंदी. घर में दोनों जून चूल्हा जलने लगा था और वे तीनों अनाथ की तरह अब अन्न, वस्त्र की भीख मांगने को विवश न रहे थे. खाने-पहनने की कमी न थी. गयादीन घाटिया की मदद से सीताराम ने इक्का-घोड़ा लिया और घर की लाज रखी.

बड़ी हो आयी बहन के विवाह के लिए इक्का चलाकर पैसा जोड़ सीताराम ने मन ही मन विवाह न करने की ठान ली थी. शिवकली का विवाह कर वह छोटे भाई के लिए खेत खरीदेगा—खेती करायेगा. पढ़ने-पढ़ाने की बात उसके जैसे मजदूर-श्रेणी के आदमी के लिए कोई अर्थ नहीं रखती थी, पर एक रात जो घटित हुआ, उसने उसे 'धर्मसंकट' में डाल दिया. स्टेशन से दस मील दूर अपने गांव वह रात बारह बजे की पैसेंजर गाड़ी देखकर वापस आ रहा था. दायें-बायें दोनों ओर दूर तक लंबे मैदान, खेत-खलिहान के पार गांव मुर्तैली छांहों-से दिखायी पड़ जाते थे. सामने मीलों चली गयी लंबी सीधी सड़क—हर चीज गहन प्रशांत नींद में सो रही थी. न कहीं कोई हिलता-डुलता था, न कोई आवाज थी. बचपन से सभी कुछ उद्वेलित देखते आये सीताराम को विश्वास नहीं होता था कि प्रकृति इतनी शांत भी हो सकती है. फीकी चांदनी में दूर चित्र-लिखे से झोपड़े, टिमटिमाते तारे, भूसे के ढेर, नींद के झुके हुए झाड़-झंखाड़ कितने स्थिर, नेक, उदास, स्वप्न में अलसाये-खोये पोखरों से लग रहे थे.

स्टेशन और गांव के ठीक बीचों-बीच एक कुआं था, जिससे सात-आठ हाथ दूर एक छोटी-सी अधकच्ची मढ़िया, जो रात क्या दिन में भी सूनी पड़ी रहती थी. सामने चौंतरा था, जिस पर कभी-कभार कोई थका-हारा राहचलतू बैठा दिख जाता था. सीताराम ने ठिठककर इक्का रोका. कोई हिंसा-मत्त पुरुष एक स्त्री का गला और मुंह कसकर बांधे उसे घसीटता कुएं की जगत पर ला रहा था—वह जरा भी नहीं चिल्ला पा रही थी—अस्फुट 'गों-गों' करके रह जाती थी. उसके बदन की छटपटाहट सीताराम को साफ दिखायी दी, जैसे कोई चीत्कार अधकटे अंधेरे से उबरने को तिलमिला रहा हो. निर्भीक सीताराम ने झपटकर पुरुष के गले को पूरी ताकत से दबा दिया. पुरुष एक हाथ से सीताराम को ढकेलने और कमर से चाकू निकालने की कोशिश कर रहा था, पर कसील जवान सीताराम की निष्ठुर वज्र जैसी फौलादी पकड़ उसे मजबूर किये थी. सहसा स्त्री की छटपटाहट और गले का अस्फुट आर्त स्वर बंद हो गया. सीताराम को लगा, स्त्री का दम घुट गया और उसका ध्यान बंट गया. इस बीच अपने मसले गले को संभालता अधमरा हो गया वह नृशंस अधेड़ आहत जंगली जानवर की तरह पीछे जंगल की तरफ भाग निकला.

सीताराम ने उसके पलायन की ओर ध्यान न देकर फुर्ती से स्त्री का मुंह और गला खोला. वह बेहोश थी. प्राणांत की भयावह आशंका उसकी सारी मुख मुद्रा पर छायी थी. कहीं वह बदमाश इधर-उधर छिपे साथियों को लेकर आ न जाये, यह सोचकर सीताराम ने स्त्री को अपने हाथों पर लादकर इक्के पर लिटाया और पूरी तेजी से फिर उसी जमुहाई सड़क पर घोड़े को दौड़ाया. बीच-बीच में स्त्री के सिर को संभालता जाता था कि कहीं इक्के-घोड़े के झटकों से लटक न जाये. गांव अभी पांच मील दूर था. घंटे भर में ही इक्के की चाल और ताजी हवा के थपेड़ों से स्त्री होश में आकर किसी तरह शरीर को उठाकर इक्के के पिछले भाग से टिकी बैठी थी. उसकी निकलती जान फिर लौट आयी थी.

सीताराम ने पीछे मुड़कर देखा. इतनी दुर्दशा के बाद भी उसके भरे-पूरे स्वास्थ्य से सच्चे वसंत का आभास होता था. मुख पर छायी यंत्रणा दुबली-पतली कोमलता में बदल चुकी थी. पूछा, "कहां है तुम्हारा घर? तुम्हें पहले पहुंचा दूं, तब वापस लौटूं."

स्त्री कुछ बोली नहीं. प्रदीप की पीली पड़ती जाती चांदनी में सिमटी-समायी जा रही थी. सीताराम ने कुछ झल्लाकर कहा, "सुनाई नहीं दिया. बोलती क्यों नहीं? आखिर कहां की हो? कहां जाना है?"

इस बार स्त्री ने क्षीण स्वर में कहा, "तुमने क्यों बचाया मुझे? उसे कुएं में डाल देने देते. सदा को दुख-जंजाल, मान-मर्जादा के फंदे से छूट जाती. चार स्टेशन पहले औंग स्टेशन से सात कोस दूर गांव की हूं."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

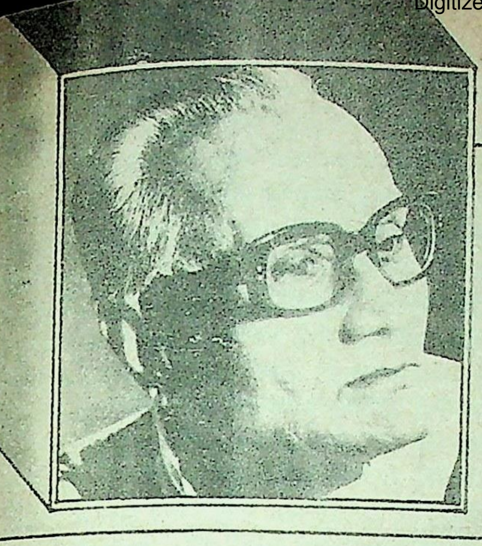

▣ रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
जन्म : 1 मई, 1915 ग्राम : किशनपुर, जिला : फतेहपुर (उत्तर प्रदेश)
ग्रामीण और नागरिक जीवन के अपने अनुभवों को यथार्थपरक ढंग से कहानी के रूप में प्रस्तुत कर तनावमुक्त होनेवाले अंचलजी के अब तक तीन कहानी संग्रह, तीन उपन्यास, तीन खंडकाव्य और अठारह कविता-संग्रहों के अलावा आठ अन्य कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं. संप्रति : स्वतंत्र लेखन

सीताराम बोला, "तुम मरने के लिए इतनी दूर इसी कुएं में क्यों आयी? कौन था वह बदमाश? आते-जाते कहीं दिखाई पड़ेगा तो लाठी से उसका भेजा निकाल लूंगा."

स्त्री के अवसन्न, ढीले शरीर पर जैसे मछलियां तैरने लगीं. रोमों में कोंपलें फूट पड़ीं. बोली, "मेरा जेठ था. फुसलाकर, डरा-धमकाकर पहले मेरा धरम लिया. मुंह काला करता रहा. बढ़ता पेट न छिपाये छिपता था, न गिराये गिरता. बदनामी के डर से जेठानी की सलाह पर मुझे मढ़ियाजी की महिमा समझायी, देवी के दर्शन कराने ले आया. इसके मन का पाप समझने की बुद्धि होती तो इसके जाल में क्यों पड़ती? गला और मुंह बांधकर कुएं में डुबोने घसीटे लिये जा रहा था. भगवान के भेजे तुम आ गये—मेरी जान बचायी. संसार में मेरा कोई नहीं. अब तुम जानो."

सीताराम ने ध्यान से देखा. सच ही तो कह रही थी. उसकी आंखों के आगे ऐसी ही हरी हल्दी से अंकुराई और फिर पीली पड़-पड़ छीजती जाती मां की देह, मुखाकृति और चितवनों की थरथराहट घूम गयी. वह कुछ न बोला. न जाने क्या-क्या सोचता घर आया.

दूसरे दिन चंदा उसी की ब्याहता बन गयी, दोनों भाई-बहन नयी भौजी साथिन को पाकर निहाल हो गये. चंदा को यह सब जैसे सपना लगता था, जिसकी नींद भगवान करे कभी न टूटे, वह ऐसी ही सोयी-सोयी जीती जाये. ब्याह के बाद और गौने के पहले ही उसकी चूड़ियां फूटी थीं. जेठानी के तिरस्कार और जेठ के कामाचार से मुक्त होकर वह बिलकुल नये जीवन-देश में आ गयी थी. उसने क्या कर डाला, यह सोचकर बीच-बीच में उसके चेहरे पर दुख का भाव भी झलक उठता था—दर्पणी में मुंह देखती और लज्जा के पारदर्शी झीने आवरण में संकुचित होने लगती. कभी-कभी तो स्वयं अपने से पहचानी भी न जाती, ऐसी निखर आयी थी जैसे बरसात के बाद किसी मंदिर से लगी वनभांगरे की क्यारी.

सीताराम कहता, "शरीर सुखी और दिल खुश रखना चाहिए, ऐसे में. शिवकली सब काम करेगी."

चंदा मटर की ओस-भीगी रोमांचित फलियों जैसी होकर रह जाती. ननद और दोनों देवर उसे कोई काम न करने देते. नीम में नयी पत्तियां आने जैसा प्राणोन्मेष सब ओर छाया रहता. सीताराम के छूते ही चंदा सुख से कांप उठती थी. उसका दिल घिरने लगा था. पैरों के नीचे झुर-झुरी दौड़ जाती थी. बिरादरी में कानाफूसी ही नहीं, भर्त्सना की लहर उठ पड़ी थी, "जैसी मां, वैसा बेटा." कह-कहकर खुली-मुंदी निंदक चर्चाएं चलती थीं, पर गयादीन ने इस संबंध में सीताराम से कभी कुछ नहीं कहा. उसकी दृष्टि में प्रशंसा का जो प्रच्छन्न भाव झलक उठता था, वह सब कुछ कह देता था. पूरे गांव में आखिर वही तो हेकड़ीबाज सीताराम का एकमात्र हितैषी था. मां ने मरते समय उसी की ओर मूक करुणार्द्र आंखों से देखते हुए तीनों बच्चों को टूटते दम के साथ उसे सौंपा था. समर्थ हो जाये भाई-बहन की खोज-खबर वह लेता रहता था. उनके कुछ मांगते ही शक्ति भर देने को हमेशा तैयार-मुस्तैद.

गांव भर की दृष्टि में भगाकर लायी चंदा ने समय पर जब लड़का जना, तब सीताराम का सगा उत्साह और उल्लास देखकर चंदा को मन ही मन उस पर मर मिटने की चाह हुई. कानाफूसियों से घिरे समाज ने तब जाना कि सीताराम के घर बेटा हुआ है. भगाकर लायी गयी हो या भांवरे-फिरी, ब्याहता ब्याहता ही होती है. सीताराम के मन में कहीं कोई दरार नहीं, कोई असमंजस या कुंठा नहीं. निर्द्वंद्वभाव से यही कहता, "मेरा पहला बेटा है." सोवर में स्वस्थ, गोरे, आकर्षक नवजात की हर प्रकार की सेवा-सुविधा से रक्षित चंदा सोचती—यह आदमी के चोले में देवता है, जो पराये बीज को अपने जैसा अपनाये है. नाउन दोनों जून मालिश करती—बसोरन समय पर सारा काम कर जाती और शिवकली दिन भर काम में लगी रहकर भी पास बैठकर उसे सोंठ-घी-गुड़-गरम दूध पिलाती—अपनी कुंआरी किरणों से चंदा का तन-मन भर देती. दोनों देवर घर छोड़कर कहीं न जाते. सीताराम पहले से अधिक मेहनत कर देर-सबेर जब भी आता—सबसे पहले उसी कोठरी में आकर अपनी कोमल स्नेहभरी जी-जुड़ावत बातें करता. खाने-पीने की जैसे उसे याद ही न रहती. सोई हुई शिवकली जब जागकर उससे चौके में आने को कहती, तब वह खाने बैठता. उसी कोठरी में उसकी मां ने अपने पेट में पलते गुनाह की गांठें खोली थीं. चंद्रमा की तरह एक पखवारे में घटकर दूसरे में पूरी होती रहती थी. नारी जीव का कैसा ऋतुचक्र था, जो बराबर चलता रहता था—रुकना जानता ही न था. खाते-पीते सीताराम यही सब बिसूरता रहता था. विधवा होने पर जिस फसल-कटी कोख को सूख जाना चाहिए, वह और उर्वर क्यों होती जाती है?

शिवकली पूछती, "भैया, रोटी दूं?" सीताराम ध्यान से उचटकर बहन की ओर देखता. उसकी सेवाभरी ममत्वमुखी मूर्ति उसे अभिभूत कर लेती. इसका ब्याह हो जाये तो उसकी सबसे बड़ी चिंता मिटे.

चंदा का होकर भी सीताराम का शिशु गांव ऊपर सुंदर था. जैसे-जैसे बड़ा हुआ, लोग उसकी रूपकांति श्री से चकित होते रहे. इस बीच शिवकली का विवाह जाने कितनी कोशिशों के बाद तय हुआ. सीताराम का इक्का-घोड़ा बिक गया. अपने से कुलमर्यादाहीन गंगा-पुत्रों के यहां ब्याहना पड़ा, पर अपनी दुलारी अनाथ बहन के लिए सीताराम सब कुछ करने को तैयार था. चंदा ने तो यहां तक कहा था, "चार-छै सौ का मुंह न देखो. घर बेंच दो. हम मड़ैया बनाकर गुजर कर लेंगे. तुम घरों से गेहूं लाना. मैं रातभर जात पीसूंगी. पिसाई कमाऊंगी. दिल क्यों छोटा करते हो. रामजस और रामदरस भी जवान हैं. तुम्हारे जैसे मेहनती, सदाचारी."

अपने को सदाचारी सुनकर सीताराम हंस पड़ा था, पर इस हंसी में विद्रूप न था, सहजता थी—शारदी वर्षा-सी थोड़ी होकर भी जो परिपूर्ण लगे. घर बेचने की नौबत न आयी. गयादीन ने कमी पूरी कर दी. शिवकली भौजी, भाइयों का सजल आशीर्वचन लेकर, उनके प्यार का मंगल अक्षत पहने ससुराल गयी. चंदा की अविरल रुदनभरी विह्वलता

CC-0. In Public Domain. Guruk...

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थामे न थमती थी. अपने शिशु को भी वह भूल गयी थी. सीताराम ने ऊबकर कहा, "इतना रोना है तो चली जा तू भी साथ. महीने-पंद्रह दिन में आ जायेगी. किसकी बेटी, बहन, ससुराल विदा नहीं होती. इतनी बड़ी होकर धाड़ मारती है!"

बहन की चिंता से मुक्त सीताराम इक्का चलाना छोड़कर बयाई करने लगा. व्यापारी गांव था. बाजार के दिन गाड़ियां अरहर, गेहूं, चना, जवार, मक्का, बाजरा, महुआ चारों ओर के पुरई-पाल से आकर बिकता था. भाइयों को खेती से लगाने की साध तो पूरी नहीं हो पायी, पर एक को नमक, तेल, परचून की छोटी दुकान खुलवा दी, दूसरा जमुना के इस पार से उस पार माल, मुसाफिर ढोती नावों पर मल्लाही करने लगा. घाट के ठेकेदार स्वयं ब्राह्मण थे. नाव चलाते हुए भी वह कभी मल्लाह जैसा नहीं लगा. जिसका बड़ा भाई सीना ताने, ऊंचा सिर लिये बरसों इक्का हांक चुका हो—सईसी कर चुका हो, उसे मल्लाही करने में क्यों शर्म आती. बरसात में जमुना बढ़कर ऊंचे टीले पर बने उनके घर के नीचे तक उफन आती. पानी तेज हवा चलने पर पत्थरों की तरह टकराता-चिल्लाता-झाग फेंकता. चंदा यह देखकर आंधी-तूफान से डरा करती. उसके लिए यह सब बिलकुल अनदेखा-अनोखा था. उसके गांव के आस-पास मीलों तक छोटे-मोटे जलाशयों को छोड़कर कोई नदी क्या नहर तक न थी. यहां कभी-कभी लगता—चढ़ती लहरें घर के भीतर घुस आयेंगी, पर पूरा गांव ही इतनी ऊंचाई पर बसा था कि ऐसा कभी आज तक हुआ न था; भले हवा की तेज सांय-सांय सब कुछ उड़ा ले जाती लगे. रामजस कहता, "भौजी, नीचे की पूरी ढलान, पीछे का पूरा घाट बाढ़ की झाग से सना है. बरसात बाद इतनी उतर जायेगी कि कुछ पता न चलेगा. पगलाया पानी कहां तक चढ़ा था."

सुनकर चंदा कभी-कभी मन में कांप जाती.

सीताराम ने बड़े प्यार के साथ बच्चे का नाम रामकिशोर रखा. चंदा अब न जाने कितनी निखर आयी थी. सीताराम कभी-कभी मुग्ध हो निहारता रह जाता. शिवकली को ब्याहकर अब जैसे चंदा को प्यार करने की फुरसत मिली हो. सोचता—कैसी अद्भुत देह है यह. जहां रहती है, अपने चारों ओर की हवा और रोशनी को अपने अधीन कर लेती है. चंदा की आंखों में चिरकृतज्ञता में डूबा ऐसा अर्पण-भाव भरा था, जो उसे सीताराम की दृष्टि में गांव भर की सब से सुंदर स्त्री बना देता था. रामकिशोर तो बालक तन धर कर आया कोई देवकुमार लगता. दोनों चाचा उसे हाथों-हाथ लिये रहते, पर छठवां साल बीतते-बीतते केवल पांच दिन की बीमारी में चंदा चल बसी. सन्निपात सर्दी ने उसे ऐसा धर दबोचा कि गंगा वैद्य की कोई पुड़िया काम न आयी.

सीताराम ने गांव में हो सकनेवाला भरपूर इलाज किया. सेवा में कोठरी को आग से दहकाये रखने में कसर नहीं छोड़ी. चंदा मरने के पहले बोली थी, "तुमने भगवान की तरह मेरा उद्धार किया, अकाल मौत के नरक से निकाला. मैं करमजली छः साल में तुम्हें एक बच्चा न दे सकी. उल्टे हराम की औलाद तुम्हारे गले मढ़े जा रही हूं. जिस कोख को तुम्हारे जैसा मर्द पाकर अंकुराते रहना था, वह बांझ हो गयी, अपने पैर भारी होने का सुसंवाद तुम्हें सुनाने के लिए तरसती रही. मैं बचूंगी नहीं. तुम दूसरा ब्याह कर लेना. वचन दो!"

सीताराम रो पड़ा. उसकी ओर भक्ति-सतृष्ण आंखें गड़ाये चंदा फिर बोली, "मेरे प्राण न अटकाओ. डोली में लायी ब्याहता से बढ़कर तुमने मुझे आदर-मान दिया. तुम ब्याह करोगे—तभी मेरी सद्गति होगी." प्रयाणोन्मुखी के शब्द पानी की लहरें बनकर सीताराम की धमनियों में छा गये. चंदा का शव तीनों भाइयों ने श्मसान घाट तक पहुंचाया—फूंका-तापा. गयादीन बराबर साथ रहा—उसी ने क्रियाकर्म कराया. चंदा की अंतिम इच्छा पूरी करने के लिए सीताराम को भीतर-भीतर कोई शक्ति बराबर ठेल रही थी. उसने रामकिशोर के लिए तो एक शब्द तक न कहा, "सीताराम के प्रति अखंड विश्वास लिये चली गयी थी."

उसने न चाहकर भी दुबारा ब्याह किया. वर के अभाव में बैठी, दस कोस पीछे के गांव के गंगा-पुत्रों के यहां की चौबीस वर्ष की दुलारी को ब्याह लाया. कुलीनों ने उसका पूरा बहिष्कार कर रखा था.

रामकिशोर बड़ा होता गया. पढ़ने की ओर उसकी प्रगाढ़ प्रवृत्ति पाकर सीताराम ने प्राथमिक पाठशाला में नाम लिखा दिया. उसका शांत सुशील स्वरूप देखकर सभी को प्यार आता था. शाला के शिक्षक उसकी बुद्धि की कुशाग्रता पर चकित थे. ब्याह हो जाने के बाद दुलारी ने चंदा और रामकिशोर के संबंध में सारी बातें जान लीं. पहले उसके भीतर सौतेले बेटे के प्रति जो वत्सल लगाव था, उसकी जगह भूसी की आग जैसी धीमी-धीमी तिक्त घृणा लेती गयी. ब्याहकर आते साल भर बाद ही उसने पहला बेटा जना. सीताराम और भाई प्रसन्न हुए. दुलारी का हृदय अभिमान से फूल उठा. आते ही उसने वंशारोपण किया और पहलौठी लड़का ही हुआ. रामकिशोर के प्रति उसका अवज्ञा भाव और बढ़ गया. शिवकली मायके आती, सब देखती. चंदा से उसे बेहद लगाव था. रामकिशोर उसी मृत भौजी का पेटजना था, जो आते ही उससे सगी बहन जैसा प्यार-पुचकार करने लगी था. मायके में जब वह रहती तो किशोर को बुआ का सगा वात्सल्य देती, पर मायकेमें अधिक रह भी तो न पाती थी.

दुलारी ने एक के बाद एक पांच बेटों को जन्म दिया. रामकिशोर उसकी सारी अवहेलना-घृणा के बावजूद लिखता-पढ़ता गया और चौथी कक्षा में प्रथम आया. उसके मास्टरों की प्रशंसा से पुलकित होकर सीताराम ने उसे मिडिल स्कूल में भरती करा दिया. समझदारी में वह अपने से कहीं बड़े लड़कों को पीछे छोड़ देता था. गणित में वह विशेष रूप से तेज था. वर्नाक्यूलर फाइनल तक आते-आते वह माता के दुर्व्यवहार और निंदा-वचनों से इतना ऊब चुका था कि परीक्षा पास करते ही उसने कानपुर जाने का निश्चय कर लिया था. दुलारी के लड़के मां की तरह सांवले थे. उनकी गठन भी आकर्षक न थी, पर मां बेटों की संख्या में चूर थी. कैसी उर्वर भागवती उसकी कोख है, जो लड़की जनना जानती ही नहीं. वे सब उसके थे—सीताराम के रक्त-मांस के थे. रामकिशोर न जाने कब कहां का पराये खेत का बीज था, जो घर भर के मन में इतनी जगह घेरे था. दुलारी रामकिशोर से जितना भी हो सकता, घर का काम लेती. रात में देर तक उसे पढ़ता देखकर तेल के खर्च पर कुढ़ती. कभी उसके कपड़े न धोती—उसकी थाली-गिलास न मांजती. उसे खुल्लमखुल्ला अपशब्द कहती. लगातार बच्चे जनते-जनते पहले से ही प्रौढ़ उसका मुंह इतना खुल गया था कि सीताराम कुछ बोलता तो कलह मचा देती. घर में शांति बनी रहे, बाहरवालों तक इस महनामथ की बात न पहुंचे, यह सोचकर इतने बड़े परिवार की रोटी-दाल की चिंता में चूर सीताराम चुप रह जाता. रामकिशोर भी बड़ा होकर सारी बातें जान चुका था. उसे लगता—पिता सौतेली मां का पक्ष लेते-लेते उसी के हो गये हैं. घर में इतनी गरीबी है—हाथ इतना तंग है कि जो भी कमा लाते हैं, परिवार के पालन को पूरता नहीं. पर बाहर नौकरी कर पैसा कमा कर वह माता-पिता, भाइयों की मदद करेगा—उनके जीवन-स्तर को सुधारेगा, ऐसा कोई भाव उसके मन में कभी न आता था. मां की धुंधली याद, मुखाकृति की क्षीणप्राय पहचान भी अब खत्म हो गयी थी. कौन था, कहां का था, किसकी औरस संतान था, यह सब भी तो अज्ञान के अंधे गर्भ में था. छोटे भाई अभाव और गंदगी में पल रहे थे. मां का उनकी ओर ध्यान भी न जाता था. अपनी चोटी, काजल, बेंदी, मेंहदी, महावर में लगी रहती. रामकिशोर सोचता—मां की अभी जैसे और बच्चे जनने की साध है. दुलारी के व्यवहार से क्षुब्ध होकर दोनों चाचा भी अलग बनाते-खाते थे. जो चंदा उन्हें खिलाये बिना खुद न खाती थी, उसी की जगह आयी भौजी उन्हें कभी अपनी ओर से पूछती तक नहीं. मांगने पर बिना मन परोसती है, उसमें भी एक विलक्षण बिलगाव रहता है. जैसे वे उसके पति की सारी कमाई खाये जा रहे हों. अक्सर वे दूसरी जून बिना खाये रह जाते, पर सीताराम से उन्होंने कभी कुछ न कहा—न ही कोई अशांति मचायी. और सीताराम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था कि सब कुछ देखकर भी कुछ न देखता था, जानकर अनजान बना रहता था. जैसे पहले की सारी हेकड़ी चंदा अपने साथ लेती गयी हो.

फाइनल परीक्षा को एक महीना रह गया था. फीस माफ होने और स्कूल से अन्य छुटपुट सहायता मिलने पर भी कागज-किताब की कमी बनी रहती. रामकिशोर ने इधर-उधर से मांग-जांचकर भूगोल के अपने 'नोट्स' बनाये थे. एक दिन खेल-खेल में भाइयों ने उस मोटी कापी को चीर-फाड़कर बराबर कर दिया. उसमें बने रंगीन नक्शों के पन्नों को फाड़कर पतंगों जैसा हवा में उड़ाया. दूसरे लड़कों को पतंग उड़ाते देखते थे, ललचाकर रह जाते थे. कौन उन्हें खरीद देता? अपनी वही तीव्र रंगीन इच्छा उन्होंने इस प्रकार पूरी की.

पढ़ाई के घंटों के बाद भी स्कूल में अकेले देर तक बैठकर परीक्षा की तैयारी करनेवाले रामकिशोर ने घर आकर यह सब देखा. संताप से आंखें जल उठीं. महीनों की मेहनत गारत हो गयी. क्रोध में आकर उसने उनमें से सबसे बड़े को दो थप्पड़ जड़ दिये. दुलारी आंगन के दूसरी ओर दालान में जांत पीस रही थी. लड़का आर्तस्वर में इस प्रकार चिल्लाया जैसे किसी ने प्राणलेवा प्रहार किया हो. हड़बड़ाकर मां दौड़ी आयी और रामकिशोर को मत्थे पर हाथ रखे निराश आंखें मूंदे बैठे पाया. लड़के का कंठ रोदन से फूल रहा था, यद्यपि आंखों में आंसू का नाम न था. मां को देखकर जोर से धाड़ मारता हुआ बोला, "किशोर ने. . ."

बात के पूरी होने के पहले ही मां ने गरजकर कहा, "तूने बदरी को इतनी बुरी तरह मारा. . . क्यों?"

रामकिशोर ने कहा, "मेरी भूगोल की कापी पूरी फाड़कर हवा में उड़ा दी. महीनों की मेहनत स्वाहा हो गयी."

दुलारी ने वैसे ही क्रुद्ध स्वर में कहा, "तेरी इतनी हिम्मत. मेरे लड़के को मारे. जिस पत्तल में खायेगा, उसी को छेदेगा. हरामी कहीं का."

"हे राम! अब मैं क्या करूं? कहां से पढ़ूंगा." कहता हुआ रामकिशोर रुआंसा हो गया.

"आग लगे तेरे पढ़ने में. बाप दिनभर मेहनत-मजूरी करता है, तब पेट भरता है. इतना बड़ा डांगर हो गया है—कुछ कमा. आ मुझको मार, लड़के से क्या जोर दिखाता है दोगले!"

सीताराम के घर लौटते ही उस दिन इतना कलह मचा कि सुबह की बनी रखी ठंडी रोटी भी उससे न खायी गयी. रामकिशोर उसी प्रकार अपराध-पीड़ित उदास मुंह लिये पड़ा रहा, जो विषाद-मंडित होकर और भी सुंदर हो जाता था. सीताराम को रामकिशोर की सुशीलता और सहनशीलता का पूरा पता था. अपने बड़े लड़कों का बंचड़पन भी उससे छिपा न था, पर उसने भी जब मां से कुछ न कहा–रामकिशोर की इस अपूरणीय क्षति के लिए सहानुभूति के दो शब्द भी न निकले—शैतान बड़े लड़कों को तनिक भी न डांटा तो रामकिशोर का पूरा तन-मन कसैले खट्टेपन से भर गया. पिता की मूकता, असहायता का वह मलीन भाव उसे निष्ठुर ही नहीं, कायरतापूर्ण भी लगा. उसका हृदय रह-रहकर एक निष्फल अभिमान से फूल-फूल उठता था. रात भर वह आंसू बाहता रहा. भीतर-भीतर न जाने किस अंतर्यामी देवता को बिना जाने-पहचाने टेरता रहा.

आये दिन छोटे भाई जो शैतानी करने के लिए पर्याप्त बड़े हो आये थे, इसी प्रकार की अशांति पैदा करते; रामकिशोर को चिढ़ाते. माता-पिता का ठंडा, कठोर, हृदयहीन रुख उसकी ओर भांपते-भांपते वे उद्दंड हो गये थे. सारे तनावों-अभावों में भी रामकिशोर ने हर प्रकार धीरज रखकर परीक्षा दी. परीक्षाफल निकला तो पूरा गांव दंग रह गया. वह प्रथम श्रेणी में अपने स्कूल में सर्वप्रथम पास हुआ था. आगे पढ़ना असंभव था. जिले के एकमात्र सरकारी स्कूल में छात्रावास में रखकर उसे कौन पढ़ाता? उसे भी अब अपने घर में रहकर दरिद्रता की ऐसी विभीषिका बिताने में अपने से ही घृणा लगती थी. कानपुर जाकर मुलाजमत कर अपने पैरों पर खड़े होने में अब कोई बाधा न थी. एक दिन सचमुच वह बिना मां-बाप से कुछ कहे घर-परिवार छोड़कर चल दिया.

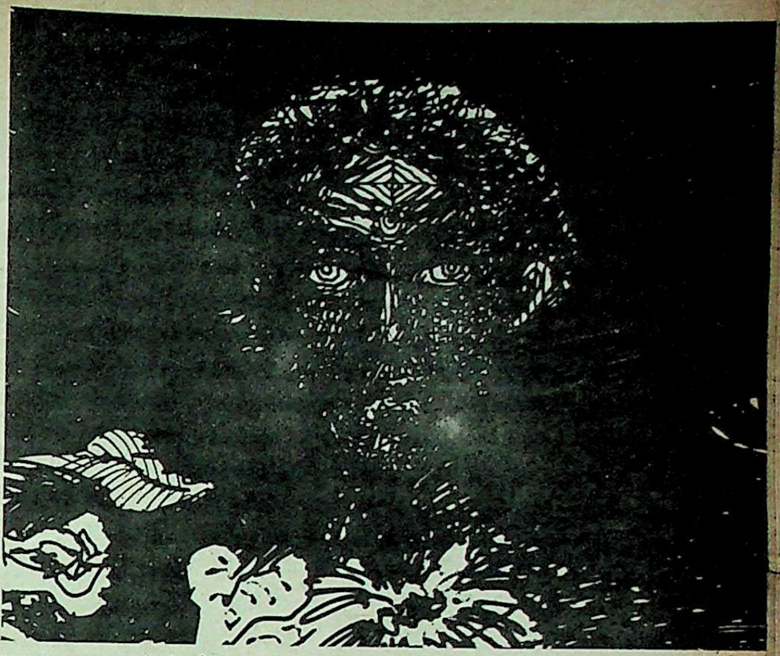

कानपुर पहुंचते ही गांव के एक व्यापारी से संबंधित दूकान में उसे पच्चीस रुपये महीने की मुनीमी मिल गयी. अपने स्कूल के हेड-मास्टर का प्रशंसा-भरा प्रमाणपत्र जब उसने हेड मुनीम को दिखाया तो उसकी सुंदर देवाकृति, विपन्नावस्था और परीक्षाफल देखकर वे तत्काल मालिक के पास ले गये. उसे कहीं न जाने देने और अपनी दूकान में रख लेने की जोरदार सिफारिश की. उसकी ईमानदारी और भविष्यवानता का पूरा विश्वास अपनी तीक्ष्ण अनुभवी दृष्टि से उसे देखते ही उन्हें हो गया था. यही नहीं, सहानुभूति के साथ उसके घर की सारी बातें सुनीं—उसे एक महीने की तनख्वाह पेशगी देकर मालिक के बड़े आवास के बाहर एक साफ-सुथरी कोठरी भी दिला दी. रामकिशोर ने इतने रुपये एक साथ कभी न देखे थे. बड़े मुनीम उसके बाबा की उम्र के थे. उनके प्रति उसका हृदय श्रद्धा-भक्ति से भर गया.

सीताराम उन दिनों बमाई छोड़कर गांव के जमींदार के यहां सिपाहीगीरी कर रहा था. गांव में बमाई करनेवाले बहुत हो गये थे. कमाई इतनी घट गयी थी कि परिवार का पेट न पलता था. तनख्वाह तीन रुपये मासिक थी, पर लगान-वसूली में किसानों से छीना-झपटीकर खाने भर को अनाज झटक ही लेता था. तनख्वाह के अलावा जमींदार के यहां से खाना-कपड़ा एक सीधा रोज और साल में दो कुर्ता-धोती भी पाता था. बच्चे बड़े होकर आवारा घूमते थे—न भरपेट खाना, न भर तन कपड़ा. ऐसे में दुलारी वर्षों के अंतराल के बाद फिर गर्भवती हो गयी.

सीताराम चुप हो गया था. पत्नी की निर्लज्जता हर बार पेट के साथ बढ़ती जाती थी. सौवर का खर्च फिर सिर पर था. ऐसे में जब रामकिशोर को, चंदा की बात याद आती तो बिसूरता रह जाता. भगवान ने कहां से कहां लाकर छोड़ दिया. कैसा घर था—कैसा हो गया. गांव के लोगों का कानपुर आना-जाना बना रहता था. अनेक घरों की नातेदारियां वहीं थीं, रामकिशोर के समाचार मिलते थे. इतने ठाठ-बाट से रहता है जैसे कोई रईस हो—पहचाना तक नहीं जाता. बड़े मुनीमजी ने निर्दोष चाल-चलन का रूपवान, तेज दिल-दिमाग का सजातीय लड़का घर बैठे पाकर अपनी पोती उसे ब्याह दी थी. विवाह में रामकिशोर ने केवल एक शर्त रखी थी कि परिवार का कोई व्यक्ति आमंत्रित न हो. वह घर की फटेहाली खुलने नहीं देना चाहता था. ससुरालवालों ने उसकी अलग अच्छी गृहस्थी जमा दी थी. गांववाले उसकी रेशमी वेशभूषा, शहरी रहन-सहन देखकर उसके भाग्य की—मां-बाप के पुण्य-प्रताप की सराहना करते थे. सीताराम के मन पर यह सब सुनकर आघात लगता कि कभी मां-बाप, चाचा, भाइयों को पूछता तक नहीं. जिसे जन्माया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul K

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाला-पोसा और पढ़ा-लिखाकर इस समृद्धि तक पहुंचाया, वह इतना कृतघ्न कि कभी उसकी चर्चा तक न करे. जिसने उसकी मां का उद्धार कर पूरे गांव से द्रोह कर जाति-बहिष्कृत हो उसे ब्याहता बनाया—पूरा पत्नीत्व-प्रेम-मान दिया, वही सीताराम लड़के की दृष्टि में इतना हेय हो गया. सौतेली मां और भाइयों से भी ऐसी विकट विरक्ति न होनी चाहिए. फिर उस पिता से जिसने उसे सगा पुत्र समझा—अंगज ही माना. सीताराम के शरीर में यह सब सोच-सोचकर नागफनी के कांटे उगने लगते. पूरा मन लहूलुहान हो जाता.

सचमुच इस बार दुलारी के जुड़वां बेटे हुए. कोख ने जैसे बीच के समय के व्यवधान की कसर निकाल दी हो. सीताराम को रोना आ गया. खाने वालों की ऐसी बढ़ी संख्या में जच्ची का खर्च कहां से आयेगा? इस बार दुलारी की खुराक भी बढ़ गयी थी, जो अनाज आता वह जैसे उसी को पूरा न पड़ता. पांच लड़के बरसाती बाढ़ की तरह सब कुछ निगलने को तैयार. उनके जर्द चेहरे, आगे निकले पेट, छछुआई आंखें और भिखमंगों की-सी क्षुधित बेसब्री देखकर सीताराम काम पर जाना भूल जाता? पर अकेला सिपाही था. दो मौजों की बाकी-वसूली उसी के जिम्मे थी. जब बाहर रहता, दरिद्रता की विडंबना को भूला रहता, जो दरवाजे में घुसते ही मुंह फाड़कर उसे खाने दौड़ती. सीधा में केवल आधा सेर आटा, दो मुट्ठी चावल और इतनी ही दाल मिलती. खेतिहरों से मांगने-जांचने में मिलता ही कितना था. यहां पूरे तीन सेर आटे की दोनों जून की मांग थी. इस बार तो दुलारी को गुड़, सोंठ, हल्दी, मसाला भी ठीक से न मिला था. वह खौखियाती रहती. दोनों पुष्ट नवजात मां के दूध के अभाव में रिरियाया करते.

बूढ़ा, जर्जर गयादीन खटिया पकड़े था. पीलिया हो गया था—घाट पर बैठना बिल्कुल छूट गया था. घर बैठे जो दान-पुण्य मिल जाता था, उसी का सहारा था. सीताराम के घर की भुखमरी उससे छिपी न थी. एक दिन उसे बुलाकर बोला, "रामकिशोर को जाकर सब बताओ, कुछ मदद करे. आखिर कब काम आयेगा.?"

सीताराम के सामने चंदा का उस स्तब्ध रात में कुएं की ओर घसिटता अर्द्धमृत शरीर घूम गया. कुछ और भी याद आया. खिन्न उचाट स्वर में बोला, "एक बार मिलना तो है, पर कुछ मांगना नहीं है. अपने-अपने कर्मभोग सब के अलग हैं. उसकी मां की एक निशानी बड़े जतन से बचा रखी है, जो उसे दे देनी है. . ." सीताराम की बात में ऐसी दृढ़ कठोरता थी कि गयादीन से आगे कुछ न कहा गया. आंखों के आगे पीले घेरे चक्कर काटने लगे.

मालिक की ओर से कानपुर के पहले स्टेशन सरसौल जाने का काम इतनी जल्दी आ जायेगा, यह सीताराम ने न सोचा था. सरसौल से निपटकर वह दूसरी गाड़ी से कानपुर आया. दूकान का पता-ठिकाना सारा गांव जानता था. वहीं गांव के सबसे धनी व्यापारी राजाराम की एक लड़की दी गयी थी. गद्दी पर पहुंचा तो साम्ने की एक बालिश्त उठी सफेद मसनद पर बैठे रामकिशोर को वह देखता ही रह गया. लावण्य से दमकता मुख, गर्व से ऊंचा उन्नत मस्तक, बंद कालर का रेशमी कोट, दुग्ध-धवल धोती, कमीज, टोपी देखकर उसे अपने बिना साबुन धुलते-धुलते लाल पड़ गये धोती-कुर्ते पर लज्जा आने लगी. रामकिशोर उसे देखकर न पहचानता हुआ, कुछ दूर पड़ी बेंच पर बैठने को कहकर गद्दी पर बैठे संभ्रांत जनों से बात करता रहा. सीताराम को देर तक इस प्रकार बैठे देखकर कुछ ही दूर बगल में बैठे दूसरे मुनीम ने सीताराम की ओर इशारा करते हुए पूछा, "कौन हैं ये, इतनी देर से बैठे हैं?"

रामकिशोर ने बेहिचक कहा, "मेरे गांव का एक आसामी है—कुछ काम से कांपू आया होगा."

सीताराम ने सुना, मन की उद्वेलित हलचल को पूरे वेग से दबाया.

दोपहर को खाना खाने घर के लिए उठते हुए रामकिशोर ने वैसी ही बेपहचानी विरक्त मुद्रा से कहा, "बोलिए, क्या काम है?"

निज भाषा और अक्षर

आपका सुखद पत्र मुझको मिला और उससे मुझको परम आनंद हुआ. आपकी समझ में हिंदी भाषा का प्रचलित होना उत्तर-पश्चिमवासियों के लिए सबसे भारी बात है. मैं भी संपूर्ण रूप से जानता हूं कि जब तक किसी देश में निज भाषा और अक्षर सरकारी और व्यवहार संबंधी कामों में नहीं प्रवृत्त होते हैं, तब तक उस देश का परम सौभाग्य हो नहीं सकता. इसलिए मैंने बार-बार हिंदी भाषा के प्रचलित करने का उद्योग किया है.

देखो, अस्सी बरस हुए बंगाली भाषा निरी अपभ्रंश भाषा थी. पहले-पहल थोड़ी-थोड़ी संस्कृत बातें उसमें लिखी गयीं, परंतु अब कम करके संवारने से निपट अच्छी भाषा हो गयी. इसी तरह चाहिए कि इन दिनों में पंडित लोग हिंदी भाषा में थोड़ी-थोड़ी संस्कृत बातें मिलावें. इस पर भी स्मरण कीजिए कि उत्तर-पश्चिम में हजार बरस तक फारसी बोलनेवाले लोग राज करते थे. इसी कारण उस देश के लोग बहुत फारसी बातों को जानते हैं. उन फारसी बातों को भाषा से निकाल देना असंभव है. इसलिए उनको निकाल देने का उद्योग मूर्खता का काम है." □

(हिंदी में लिखनेवाले अंग्रेज लेखक फ्रेडरिक पिन्काट द्वारा संवत 1943 में बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री को लिखे गये एक पत्र का अंश)

सीताराम ने देखा, "आसपास लोग हैं. बोला, "अकेले में दो बातें करनी हैं."

रामकिशोर ने सामने के बड़े, दीवारों पर पुराने मालिकों के आदमकद तैल चित्रों से जड़े, कमरे में लाकर सफेद मोटे गद्दे पर बैठाते हुए पूछा, "कहिए?"

सीताराम सकते में आ रहा था. बड़ा भयावह अनुभव था जैसे एक दारुण अपराधी असहायता मुंह पर लिये चंदा आंखों के सामने सरसराती खड़ी हो. सीताराम की सांसों में आत्मा को मरोड़-मरोड़कर कचोटने वाली तिलमिलाहट जमती जा रही थी.

सीताराम ने बंडी की जेब से सोने की एक मुंदरी निकालकर गद्दी पर रख दी. गले की थरथराहट को किसी प्रकार दबाकर बोला, "तुम्हारी मां को जब अपने साथ ब्याहने के पहले उसके प्राणघाती जेठ से छुड़ाकर लाया था, तब कमर में बंधे एक डोरे में वह इसे छिपाये थी. घर आते ही मुझे दूसरे दिन दे दी थी. तुम तब चार महीने के पेट में थे. तब से आज तक बड़े से बड़े संकट में भी मैंने इसे नहीं बेचा. शिवकली की शादी में उसे देने की जिद उसने की थी. . . मैंने नहीं मानी."

सीताराम की आवाज सपाट थी. उसका चेहरा सपाट था. लड़के की ओर इस तरह देख रहा था जैसे आंखों में रोशनी न बची हो, बोला, "मैं ब्राह्मण हूं. आज तक कोई अधम काम मैंने नहीं किया. तुमने जो आज मेरे साथ किया है, उसके लिए सराप के शब्द मुझे नहीं मिल रहे हैं, असीसने की कौन कहे! तुम्हारा इतना बड़ा पाप भगवान को कदापि सहन न होगा. तुम्हारे अंग-अंग से फूटेगा."

सीताराम के शरीर पर कंपकंपी की झड़ी लगी थी. किसी प्रकार अपने को गिरने से बचाता हुआ वह बाहर निकल आया था. अपने को इस तरह बचाता चल रहा था जैसे स्याही के कांटों की बर्नैली झाड़ी के बीच से गुजर रहा हो. रामकिशोर न जाने किस अविजनित आतंक के बादलों में गड़ा निस्पंद बैठा रह गया. चाहकर भी डगमग करते जाते पिता को रोक न पाया—जैसे किसी ने सारी गति हर ली हो. उसी मुंदरी पर वह अपनी एकटक पाषाण-दृष्टि गड़ाये रहा. □

● बंगला सिविल लाइंस, पचपेड़ी, जबलपुर (मध्यप्रदेश)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिवाद

छेदीलाल गुप्त

क्या करम और करतब से ही कोई ऊंच और नीच होता है . . . . ? जिंदगी जीने के लिए मिलती है या मरने के लिए . . . ? आखिर वे कौन से अवसर होते हैं जब हम अपने विरोध से अपने ही प्रतिवाद के आगे झुकने लगते हैं . . . . वरिष्ठ कथाकार छेदीलाल गुप्त की कहानी—

विरोध से प्रतिवाद का गहरा संबंध है. और दोनों ही तब एक में दूध पानी-सा मिला हो तो? तो?

इस 'तो' तक पहुंचकर सोचने का क्रम टूट जाता है, हमेशा टूट जाता है. यह भी अजीब बात है कि जब धूप ओसारे में आकर पसर जाती है और अंधेरी कोठरी में मालती को उठकर जाना पड़ता है तब वही क्षण इस 'तो' के प्रवेश का क्षण होता है.

अरे, ओसारे में बैठी रहकर तो सब कुछ को भूला जा सकता है वह सब जो मन को कुतुर-कुतुर कर खाता रहता है या जो दिमाग की धमनियों में टप-टप करता रहता है या जो बड़ी-बड़ी बादाम की जैसी आंखों में चिनकती रहती है . . .

यही सब और क्या!

ओसारे में बैठे रहने पर तो बाहर के सब कुछ यानी मैदान के सूखे कुएं की बगल में अमरूद के पेड़ का पिंजर, कारपोरेशन के नल पर की भीड़ और गुनिया महराजिन का भनककर यह कहना कि पहले में आयी, लंबर मेरा है, बड़ी आई छमक्को, गगरा लेकर सीने पर चढ़ी चली आ रही है . . . दुर-दुर हट् . . . ! और छमक्को का आंखें तरेरकर महराजिन को देखते रहना मगर पीछे एक कदम भी नहीं हटना, होगी पवित्तर, हम सही मेहतरानी, हवा तो हमको छूती है तुमको सहलाती है तब छूत नहीं लगती?

हां, हवा तो न मेहतरानी की है और न महाराजिन की गुलाम. वह तो परकिरती की है; सब की. ओसारे में बैठे-बैठे मालती का जी चाहता कि वह इस विरोध का प्रतिवाद करे यह कह कर . . . 'ए पवित्तर शर्मा की सजीली महराजिन अपने घर में काहे नहीं नल लगा लेती· यह तो कारपोरेशन का नल है यानी सरकारी. यानी सबका यानी सबके लिये.'

एक रोज मालती ने मंगली धोबिन के ओसारे पर आ खड़ा होने पर उससे पूछ लिया था . . . 'का री मंगली, तुझे मरद का दरद नहीं है या तेरे मरद को तेरी गरज नहीं है?'

मंगली न शरमायी और न हबुआयी, खिलखिलाकर हंस पड़ी, 'हीं-हीं'. इसके लिये हर रोग की दवा हंसी है. करमजरी. सब समय गाती रहती है . . . रंग बरसे चूनर भींगे . . . और जब उसकी हंसी का एक लंबा क्रम टूटा, तो तन कर उसने पतली कमर पर दोनों हाथों को ऐसे मोड़ा कि मालती को उसके छोड़ आये पति-परमेश्वर का खयाल हो आया.—वे करते तो क्या करते! दोष उनका नहीं. सब दोष है रुपये की ठनक का. बाप का धन और अपना मन दोनों का मेल कभी हुआ है, न होगा. न बाबू न भइया सबसे बड़ा रुपइया. सहारा मिला काहिल हो गये. घर घुसरा. कुछ करते नून रोटी खाती, किसी का बोझ तो नहीं रहती. और वह चट से ओसारे से उठकर कोठरी में यानी कि अंधेरे में समा गयी.

यही मुसीबत है, मालती विरोधी और प्रतिवाद दोनों को जीती है . . . कहीं एक म्यान में दो तलवार रही हैं, या रहेंगी!

CC-0. In Public Domain. Gurukul K

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब से यही छह महीने से इस बस्ती में आयी है, आयी नहीं लायी गयी है, तब से उसका दुख बांटने वाला एक संगी ओसारा है और दूसरा कोठरी? कोठरी का घुप्प अंधेरा दुख का सागर.

हां बाहर और भीतर का यही अंतर है. बाहर सब कोई, सबके लिये, सब का होता है और भी तो अंधेरा ही अंधेरा.

मालती महल की रानी नहीं थी, न यह कोठे की बहूरानी वह जो थी, वह यही एक खाते-पीते घर की साहू परिवार की आठवीं कक्षा पास, गोरी चिट्टी, बेटी . . . कलकत्ते के कालीचरण की आंखों में चढ़ी—परमेश्वर की जोड़ी . . . वाह! साहू जी कृतकृत्य हो गये. बिटिया खानदानी परिवार में जाये मगर लड़के के लिये नगदी हजार दो हजार भी नहीं दस हजार! फिर भी वायदा तो कर लिया. देंगे, पर बाद को. और मालती बाजे-गाजे के साथ जब विदा हुई तब की एक ही बात उसे याद है—आंखों में आंसू भर कर मां की कही बात . . . 'बेटी, दोनों कुल की मरजाद रखना, पति परमेश्वर होता है. लड़की पराये घर की थाती होती है . . .' यानी वह थी सिर्फ एक मान-मरजाद वाले कुल की गुड़िया. उंह मान और मरजाद कुल-परिवार यह तो आज कहने की बात है—एक सजावट के सिवा और है क्या—हां. और पति परमेश्वर जिसे बाप की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाना आता है मगर अपने करतब का चेत नहीं. पति के घर में सात प्राणी—सास, ससुर, जेठ, ससुर, ननद, नंदोई सब की गुलाम. वह सब की सोचती मगर उसको कोई नहीं महसूसता. . . बेचारी मालती. सवेरे से उठकर 'यह करो', 'वह करो' चाय-नाश्ता सब को समय पर मगर उसको पूछने वाले के मुंह में ताला लगा था. जब कुछ कहता तब सब यह कहते—अरे, ले आना दस हजार कुछ करके तो दिखा. यों मकान अपना, न खाने की कमी और न पहनने की चिंता यह सब तो ठीक है लेकिन 'कापर करूं सिंगार पिया मोर आंधर' यानी पति निकम्मा.

एक दिन की बात है नन्हीं-सी ननद को जब मालती ने तवे से गरम-गरम पराठा उतार कर खाने को दिया तो उसने उसके गाल पर चिपका दिया. ऊंह ऐसी है कि मइया को अपने रूप में रमा बैठी. मां और बाबूजी का बोझ तो वह था ही यह एक और पत्थर बनकर आ गयी सर पर. मां ठीक कहती है. कल कोई और आ जाये तो. . . तो . . . यानी मालती के गाल पर छाले उभर आये थे. इसी तरह एक दिन ननदोई ने यह आरोप लगाया कि बाप के घर में भरपेट खाना भी नहीं मिलता था छीः छी, रसोई में बैठी बनाती रहती है और खाती रहती है. सबको अपना जूठा खिलाती है . . . कितना बड़ा अधरम है. यानी बेचारी सब तरफ से दुर-दुर. मालती यह भूली नहीं है. उस दिन की बात जिस दिन उसका अपना घर बड़े समारोह के साथ पराया हुआ था यानी कि मां का यह उपदेश 'बेटी लड़की अपनी ससुराल की होती है, वहीं उसका जीना और वहीं उसका मरना महत्तर होता है. उसे दुनिया में और कहीं ठौर नहीं होता.' यहीं क्या ठौर है, यह तो गुजर करना है. दस हजार लाती तो. . तो वह मैके जा नहीं सकती, ससुराल उसे अपने में समा नहीं सकता क्योंकि उसका पति माटी का गोरखन है जो चाहे जो गढ़ ले राम या रावण. जब बोलो तब कह देते हैं जब अच्छी नौकरी मिले तो करूं. बैठे मिले खाने तो कौन जाये कमाने! नहीं कुछ करना होगा. सिवा इसके कि वह रेल से कट जाये या गंगामइया की गोद में सदा के लिये सो जाये. ऊं हूं! जिनगानी जीने के लिये मिली है मरने के लिये नहीं. जीना जीत है मरना हार. अपने विरोध से अपने ही प्रतिवाद के आगे मालती झुकती रही यानी वह जीते या हारे . . . हारे या जीते! लेकिन एक बात है सब कुछ की एक सीमा होती है . . . एक हद, मालती एक रोज उस हद पर पहुंची—क्यों नहीं दोनों कुल की मरजाद पर मुट्ठी भर कालिख फेंके यानी इतना वह गिरेगी इसकी कल्पना कौन कर सकता था. वह कौन सोच सकता था कि जो नारी अपना हाथ किसी एक को पकड़ाने के बाद दूसरे को छूने नहीं देती वह. . . वह. . .

लघुकथा

संवेदन

■ विष्णु प्रभाकर

सदा की तरह गाड़ी स्टेशन पर रुकी ही थी कि, नाना रूप भिखारी, न जाने कहां-कहां से आकर खिड़कियों के सामने खड़े हो गये. एक अर्द्धनग्न लड़की, वैसे ही अर्द्धनग्न और बदरूप लड़के को लिये ठीक मेरी खिड़की के आगे गिड़गिड़ा रही थी. बार-बार डांटने पर भी जाने का नाम नहीं ले रही थी. हे भगवान! कब पीछा छूटेगा इन बदबख्तों से! हमारी सरकार इस ओर जरा भी ध्यान नहीं देती. कैसी ढीट है! चुंबक की तरह चिपकी है, खिड़की से. . .

तभी एक पुलिस का सिपाही वहां आया और उस लड़की की चोटी खींचता हुआ उसे दूर घसीट ले गया. वह चीख उठी. गोद के शिशु के क्रंदन से तो जैसे आकाश भर उठा हो.

तब सहसा मेरे अंतर को एक हूक-सी चीर गयी. मेरी आंखें भर आयीं और मैं उस सिपाही को गालियां देने लगा. □

● 818, कुंडेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-110006

जहां सावित्री, सीता, शैब्या. धत्तेरे की, न वे दिन रहे न वह बात. . .

उस दिन कोठरी के घुप्प अंधेरे से भी घोर अंधेरा चारों तरफ घिरा था. मालती उस अंधेरे में कूद पड़ी थी. पीछे के गलियारे में चमार टोली के पिछवाड़े. दो-चार कदम चली फिर रुकी. रुकी इसलिये कि उसका पीछा कोई करता मालूम पड़ा. वह रुकी और चौंक कर बोली, "तुम कौन?"

"मैं हम, हम . . ."

मालती ने पूछा, "जात?" उत्तर मिला, "चमार."

और मालती ने अपना हाथ बढ़ा दिया था . . ., "थामोगे!"

". . . . मगर आप आप तो बहूरानी . . ."

और मालती ने उसका हाथ पकड़ लिया स्वयं. और वह चेता चमार के साथ इस टोले में आ गयी. जहां ओसारे के सामने ऊंच जात का विरोध है तो नीच जात का प्रतिवाद भी. करम-करतब से कोई ऊंच और नीच होता है. चेता ऊंचा है उसने जिनगानी बचायी है, यानी कुछ-मरजाद के मरण से किसी को जीवन दिया है. काम करता है. जूते सीता है. यह सब तो ठीक है. मगर. . . मगर संस्कार सहज में नहीं टूटता.

मालती संस्कार का विरोध और स्थिति का प्रतिवाद दोनों स्वरूप अपनी कोख में पाल रही है. ओसारे में बैठकर फिर धूप के पसर जाने पर अंधेरे में कोठरी में घुसकर.

पुनश्च : पाठको, मालती के बारे में आप क्या सोचते हैं? क्या वह कुल्टा है? असती है? मैं मगर उससे मिला था इस टोले में उन दिनों जिन दिनों देश में हरिजन-दहन मचा हुआ था. सब सुनने के बाद मैंने पूछा था, "तुमने ऐसा क्यों किया? किसी दूसरे का हाथ पकड़े बिना कुछ कर के भी तो जी सकती थी?"

मालती ने कहा, "करती तो हूं."

पाठको, वह क्या करती है जानते हैं, वह शाम जब अंधेरे में उतरती है तब टोले के सभी बच्चों का गोल बनाकर बैठ जाती है और ढीबरी की रोशनी में सबको ककहरा पढ़ाती है. क, ख, ग . . . क, ख, ग. □

● बी-1/1, के. बी. दास गर्ल्स. हाउस, कलकत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

▣ स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल

जिन कहानीकारों की कहानियां आप इस अंक में पढ़ रहे हैं, वे और उनके समकालीन कथाकार, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार हिंदी कहानी के तृतीय उत्थान में शरीक रहे हैं. परंतु इससे पूर्व पहले और दूसरे उत्थान में स्थिति क्या थी, इसका एक जायजा देने के लिए हम प्रस्तुत कर रहे हैं-- 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आचार्य शुक्ल द्वारा 'गद्य साहित्य का प्रसार' शीर्षक के तहत वर्णित 'छोटी कहानियां' उपशीर्षक से दिया एक महत्वपूर्ण दस्तावेज. बताने की जरूरत नहीं कि आचार्य शुक्ल के इतिहास को हिंदी-कथा साहित्य का प्रथम प्रामाणिक इतिहास माना गया है...

छोटी कहानी

▣ रामचंद्र शुक्ल

जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है, उसी प्रकार कथा-कहानी कहना और सुनना भी. कहानियों का चलन सभ्य-असभ्य सब जातियों में चला आ रहा है. सब जगह उनका समावेश शिष्ट साहित्य के भीतर भी हुआ है. घटना-प्रधान और मार्मिक, उनके ये दो स्थूल भेद भी बहुत पुराने हैं और इनका मिश्रण भी. बृहत्कथा, बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि घटनाक्रम में रमानेवाली कथाओं की पुरानी पोथियां हैं.

कादंबरी, माधवानल कामकंदला, सीत-बसंत इत्यादि वृत्त-वैचित्र्यपूर्ण होते हुए भी कथा के मार्मिक स्थलों में रमानेवाले भाव-प्रधान आख्यान हैं. इन दोनों कोटि की कहानियों में एक बड़ा भारी भेद तो यह दिखायी देगा कि प्रथम में इतिवृत्त का प्रवाह मात्र अपेक्षित होता है; पर दूसरी कोटि की कहानियों

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भिन्न-भिन्न स्थितियों का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है.

आधुनिक ढंग के उपन्यासों और कहानियों के स्वरूप का विकास इस भेद के आधार पर क्रमशः हुआ है. इस स्वरूप के विकास के लिए कुछ बातें नाटकों की ली गयीं, जैसे—कथोपकथन, घटनाओं का विन्यास वैचित्र्य, बाह्य और अभ्यंतर परिस्थिति का चित्रण तथा उसके अनुरूप भाव-व्यंजना. इतिवृत्त का प्रवाह तो उसका मूलरूप था ही; वह तो बना ही रहेगा. उसमें अंतर इतना ही पड़ा कि पुराने ढंग की कथा-कहानियों में कथा-प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था, जिसमें घटनाएं पूर्वापर जुड़ती सीधी चली जाती थीं. पर योरुप में जो नये ढंग के कथानक 'नावेल' के नाम से चले और बंगभाषा में आकर 'उपन्यास' कहलाये (मराठी में वे 'कादंबरी' कहलाने लगे) वे कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरंभ में रखकर चल सकते हैं और उनमें घटनाओं की शृंखला लगातार सीधी न जाकर इधर-उधर और शृंखलाओं से गुंफित होती चलती है और अंत में जाकर सबका समाहार हो जाता है. घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है, जो उन्हें पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है.

उपर्युक्त दृष्टि से यदि हम देखें तो इंशा की 'रानी केतकी' की बड़ी कहानी न आधुनिक उपन्यास के अंतर्गत आयेगी, न राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' या 'वीरसिंह का वृत्तांत' आधुनिक छोटी कहानी के अंतर्गत.

अंग्रेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी आख्यायिकाएं या कहानियां निकला करती हैं वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' के नाम से बंगभाषा में चल पड़ी थीं. ये कहानियां जीवन के बड़े मार्मिक और भाव-व्यंजक खंड-चित्रों के रूप में होती थीं. द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्तियों का आभास लेकर प्रकट होनेवाली 'सरस्वती' पत्रिका में इस प्रकार की छोटी कहानियों के दर्शन होने लगे. 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष (सं. 1957) में ही पं. किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' नाम की कहानी छपी जो मौलिक जान पड़ती है. इसके उपरांत तो उसमें कहानियां बराबर निकलती रहीं पर वे अधिकतर बंगभाषा से अनूदित या छाया लेकर लिखी होती थीं. बंगभाषा से अनुवाद करनेवालों में इंडियन प्रेस के मैनेजर गिरिजाकुमार घोष जो हिंदी कहानियों में अपना नाम 'लाला पार्वती नंदन' देते थे, विशेष उल्लेख योग्य है. उसके उपरांत 'बंगमहिला' का स्थान है. उन्होंने बहुत-सी कहानियों का बंगला से अनुवाद तो किया ही, हिंदी में कुछ मौलिक कहानियां भी लिखीं

सिर्फ खास जरूरत

हम लोगों को जहां तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम-फहम और खास-पसंद हों अर्थात जिनको ज्यादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहां के पढ़े-लिखे आलिम फाजिल, पंडित, विद्वान की बोल-चाल में छोड़े नहीं गये हैं. और जहां तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज गैरमुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नये-नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए; जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की जरूरत न साबित हो जाये अर्थात यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी जबान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की जरूरत या इल्मी जरूरत या कोई खास जरूरत साबित हो जाये.

—राजा शिवप्रसाद के निबंध 'भाषा का इतिहास' का एक अंश

जिनमें से एक थी 'दुलाईवाली' जो सं. 1964 की 'सरस्वती' (भाग 8, संख्या 5) में प्रकाशित हुई.

कहानियों का आरंभ कहां से मानना चाहिए, यह देखने के लिए 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ मौलिक कहानियों के नाम वर्ष क्रम से नीचे दिये जाते हैं—

इंदुमती (किशोरीलाल गोस्वामी) : सं. 1957
गुलबहार (किशोरीलाल गोस्वामी) : सं. 1959
प्लेग की चुड़ैल (मास्टर भगवानदास मिर्जापुर) : सं. 1959
ग्यारह वर्ष का समय (रामचंद्र शुक्ल) : सं. 1960
पंडित और पंडितानी (गिरिजादत्त वाजपेयी) : सं. 1960
दुलाईवाली (बंग महिला) : सं. 1964.

इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव-प्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं—'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली.' यदि 'इंदुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिंदी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है. इसके उपरांत 'ग्यारह वर्ष का समय', फिर 'दुलाईवाली' का नंबर आता है.

ऐसी कहानियों की ओर लोग बहुत आकर्षित हुए और वे इस काल के भीतर की प्रायः सब पत्रिकाओं में बीच-बीच में निकलती रहीं.

सं. 1968 में कल्पना और भावुकता के कोश जयशंकर 'प्रसाद' की 'ग्राम' नाम की कहानी उनके मासिक पत्र 'इंदु' में निकली. उसके उपरांत तो उन्होंने 'आकाशदीप', 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', 'स्वर्ग के खंडहर', 'चित्रमंदिर' इत्यादि कहानियां लिखीं जो तृतीय उत्थान के भीतर आती हैं. हास्यरस की कहानियां लिखनेवाले जी. पी. श्रीवास्तव की पहली कहानी भी 'इंदु' में सं. 1958 में ही निकली थी. इसी समय के आसपास आजकल के प्रसिद्ध कहानी लेखक पं. विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने कहानी लिखना आरंभ किया. उनकी पहली कहानी 'रक्षा बंधन' सन् 1913 की 'सरस्वती' में छपी. सूर्यपुर के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह हिंदी के एक अत्यंत भावुक और भाषा की शक्तियों पर अद्भुत अधिकार रखनेवाले पुराने लेखक हैं. उनकी एक अत्यंत भावुकतापूर्ण कहानी 'कानों में कंगना' सं. 1970 में 'इंदु' में निकली थी. उसके पीछे आपने 'बिजली' आदि कुछ और सुंदर कहानियां भी लिखीं. पं. ज्वालादत्त शर्मा ने सं. 1971 से कहानी लिखना आरंभ किया और उनकी पहली कहानी सन् 1914 की 'सरस्वती' में निकली. चतुरसेन शास्त्री भी उसी वर्ष कहानी लिखने की ओर झुके.

संस्कृत के प्रकांड प्रतिभाशाली विद्वान हिंदी के अनन्य आराधक श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी की अद्वितीय कहानी 'उसने कहा था' सं. 1972 अर्थात् सन् 1915 की 'सरस्वती' में छपी थी. इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है. घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक रहा है—केवल झांक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा. कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की बीभत्स विवृति नहीं है. सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुंचता. इसकी घटनाएं ही बोल रही हैं. पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं.

हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंदजी की छोटी कहानियां भी संवत् 1973 से ही निकलने लगीं. इस प्रकार द्वितीय उत्थान-काल के अंतिम भाग में ही आधुनिक कहानियों का आरंभ हम पाते हैं जिनका पूर्ण विकास तृतीय उत्थान में हुआ. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गद्य साहित्य की वर्तमान गति

▣ रामचंद्र शुक्ल

शुक्लजी के दौर में किस प्रकार की कहानियां लिखी जाती थीं और तत्कालीन युगधारा क्या थी, इस बारे में उन्होंने इसका वर्णन 'प्रणाली' के संदर्भों में किया है. इनसे तब और आज के अंतर की जानकारी तो मिलती है, यह पाकर आश्चर्य भी होता है कि गद्य में हास्य-व्यंग्य को लेकर जो शिकायत शुक्लजी ने की थी, वह कमोबेश आज भी बरकरार है...

हिंदी में जो कहानियां लिखी गयी हैं, स्थूल दृष्टि से देखने पर वे इन प्रणालियों पर चली दिखायी पड़ती हैं—

(1) सादे ढंग से केवल कुछ अत्यंत व्यंजक घटनाएं और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र गति से किसी एक गंभीर संवेदना या मनोभाव में पर्यवसित होनेवाली, जिसका बहुत ही अच्छा नमूना है स्वर्गीय गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था'. पं. भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया' और 'पेंसिल स्केच' नाम की कहानियां भी इसी ढंग की है. ऐसी कहानियों में परिस्थिति की मार्मिकता अपने वर्णन या व्याख्या द्वारा हृदयंगम कराने का प्रयत्न लेखक नहीं करता, उसका अनुभव वह पाठक पर छोड़ देता है.

(2) परिस्थितियों के विशद एवं मार्मिक और कभी-कभी रमणीय और अलंकृत वर्णनों और व्याख्याओं के साथ मंद मधुर गति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति में पर्यवसित होनेवाली. उदाहरण—स्व. चंडीप्रसाद हृदयेश की 'उन्मादिनी', 'शांति निकेतन'. ऐसी कहानियों में परिस्थिति के अंतर्गत प्रकृति का चित्रण भी प्रायः रहता है.

(3) उक्त दोनों के बीच की प्रवृत्ति ग्रहण करके चलनेवाली, जिसमें घटनाओं की व्यंजकता और पाठकों की अनुभूति पर पूरा भरोसा न करके लेखक भी कुछ मार्मिक व्याख्या करता चलता है, उदाहरण—प्रेमचंदजी की कहानियां. पं. विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, पं. ज्वालादत्त शर्मा, श्री जैनेंद्रकुमार, पं. विनोदशंकर व्यास, श्री सुदर्शन, पं. जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' इत्यादि अधिकांश लेखकों की कहानियां अधिकतर इसी पद्धति पर चली हैं.

(4) घटना और संवाद दोनों में गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुंदर समन्वय के साथ चलनेवाली. उदाहरण—प्रसादजी तथा राय कृष्णदासजी की कहानियां.

(5) किसी तथ्य का प्रतीक खड़ा करनेवाली लाक्षणिक कहानी, जैसे—पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'भुनगा'.

वस्तु समष्टि के स्वरूप की दृष्टि से भी बहुत से वर्ग किये जा सकते हैं, जिनमें से मुख्य ये हैं:—

(1) सामान्यतः जीवन के किसी स्वरूप की मार्मिकता सामने लानेवाली अधिकतर कहानियां इस वर्ग के अंतर्गत आयेंगी.

(2) भिन्न-भिन्न वर्गों के संस्कार का स्वरूप सामने रखनेवाली. उदाहरण—प्रेमचंदजी की 'शतरंज के खिलाड़ी' और श्री ऋषभमरण जैन की 'दान' नाम की कहानी.

(3) किसी मधुर या मार्मिक प्रसंग-कल्पना के सहारे किसी ऐतिहासिक काल का खंड-चित्र दिखानेवाली. उदाहरण—राय कृष्णदासजी की 'गहूला' और जयशंकर प्रसाद की 'आकाशदीप.'

(4) देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जनसमुदाय की दुर्दशा सामने लानेवाली, जैसे श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी,' 'हृदगति' तथा श्री जैनेंद्र कुमार की 'अपना-अपना भाग्य' नाम की कहानी.

(5) राजनीतिक आंदोलन में सम्मिलित नवयुवकों के स्वदेश-प्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्सर्ग का चित्र खड़ा करनेवाली, जैसे—पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'उसकी मां' नाम की कहानी.

(6) समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के बीच धर्म, समाज-सुधार, व्यापार-व्यवसाय सरकारी काम, नयी सभ्यता आदि की ओट में होनेवाले पाखंड पूर्ण पापाचार के चटकीले चित्र सामने लानेवाली कहानियां, जैसी 'उग्र' जी कि हैं. 'उग्र' की भाषा बड़ी अनूठी चपलता और आकर्षक वैचित्र्य के साथ चलती है. इस ढंग की भाषा उन्हीं के उपन्यासों और 'चांदनी' ऐसी कहानियों में ही मिल सकती है.

(7) सभ्यता और संस्कृति की किसी व्यवस्था के विकास का आदिम रूप झलकानेवाली, जैसे—राय कृष्णदासजी की 'अंतःपुर का आरंभ' श्रीमंत समंत की 'चंबेली की कली,' श्री जैनेंद्र कुमार की 'बाहुबली.'

(8) अतीत के किसी पौराणिक या ऐतिहासिक कालखंड के बीच अत्यंत मार्मिक और रमणीय प्रसंग का अवस्थान करनेवाली, जैसे—श्री बिंदु ब्रह्मचारी और श्रीमंत समंत (पं. बालकराम विनायक) की कहानियां.

ये कहानियां 'कथामुखी' नाम की मासिक पत्रिका (अयोध्या, संवत् 1977-78) में निकली थी. इनमें से कुछ के नाम ये हैं—वनमागिनी, कृत्तिका, हेरम्बा और बाहुमान, कनकप्रभा, श्वेतद्वीप का तोता क्या पढ़ता था.

इनमें से कुछ कहानियों में एशिया के भिन्न-भिन्न भागों में (ईरान, तुर्किस्तान, अर्मेनिया, चीन, सुमात्रा इत्यादि में (भारतीय संस्कृति और प्रभाव का प्रसार (ग्रेटर इंडिया) दिखानेवाले प्रसंगों की अनूठी उद्भावना पायी जाती है, जैसे 'हेरम्बा और बाहुमान' में. ऐसी कहानियों में भिन्न-भिन्न देशों की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन की त्रुटि अवश्य कहीं-कहीं खटकती है; जैसे, 'हेरम्बा और बाहुमान' में आर्य, पारसीक और सामी अरब सभ्यता का घपला है.

एशिया के भिन्न-भिन्न भागों में भारतीय संस्कृति और प्रभाव की झलक जयशंकर प्रसादजी के 'आकाशदीप' में भी है.

(9) हास्य-विनोद द्वारा अनुरंजन करनेवाली. उदाहरण—जी. पी. श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानंद और कांतानाथ पांडेय 'चोंच' की कहानियां.

इस श्रेणी की कहानियों का अच्छा विकास हिंदी में नहीं हो रहा है. अन्नपूर्णानंदजी का हास सुरुचिपूर्ण है. 'चोंच' जी की कहानियां अतिरंजित होने पर भी व्यक्तियों के कुछ स्वाभाविक ढांचे सामने लाती हैं. जी. पी. श्रीवास्तव की कहानियों में शिष्ट और परिष्कृत हास की मात्रा कम पायी जाती है. समाज के चलते जीवन के किसी विकृत पक्ष को, या किसी वर्ग के व्यक्तियों की बेढंगी विशेषताओं को हंसने-हंसाने योग्य बनाकर सामने लाना अभी बहुत कम दिखायी पड़ रहा है. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई लेखक लाओ

हर्षनाथ

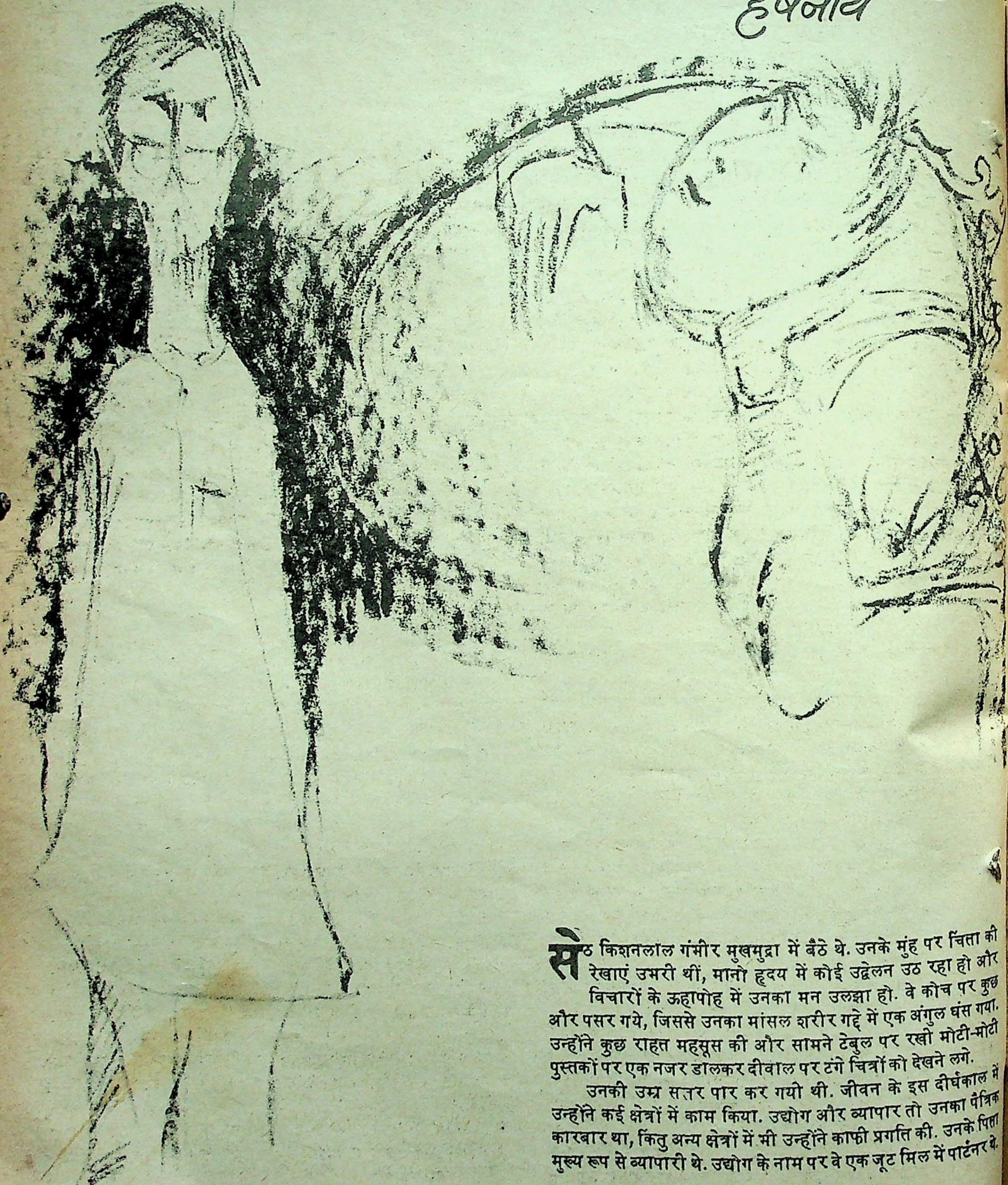

सेठ किशनलाल गंभीर मुखमुद्रा में बैठे थे. उनके मुंह पर चिंता की रेखाएं उभरी थीं, मानो हृदय में कोई उद्वेलन उठ रहा हो और विचारों के ऊहापोह में उनका मन उलझा हो. वे कोच पर कुछ और पसर गये, जिससे उनका मांसल शरीर गद्दे में एक अंगुल धंस गया. उन्होंने कुछ राहत महसूस की और सामने टेबुल पर रखी मोटी-मोटी पुस्तकों पर एक नजर डालकर दीवाल पर टंगे चित्रों को देखने लगे.

उनकी उम्र सत्तर पार कर गयी थी. जीवन के इस दीर्घकाल में उन्होंने कई क्षेत्रों में काम किया. उद्योग और व्यापार तो उनका पैत्रिक कारबार था, किंतु अन्य क्षेत्रों में भी उन्होंने काफी प्रगति की. उनके पिता मुख्य रूप से व्यापारी थे. उद्योग के नाम पर वे एक जूट मिल में पार्टनर थे.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवधनिकों की दुनिया भी कितनी अजीब होती है, जहां लक्ष्मी को अचला बनाकर अपनी दहरी में कैद कर देने की साजिशें-कोशिशें ही बराबर नहीं चला करतीं, बल्कि समाज में राजनीति में खुद को स्थापित सम्मानित करवाने का कारोबार भी बाकायदा चलता रहता है... लाखों रुपये का वारा-नारा करते हुए! ऐसी स्थिति में लेखक की क्या भूमिका होती है, वह क्या कुछ करता है और कैसे करता है? आदि सवालों का खुलासा करती अनुभवी लेखक की सशक्त कहानी—

सेठ किशनलाल ने कारबार संभालने के छः महीने के भीतर ही मिल अपनी बना ली. उनके पिता की भी समझ में नहीं आया कि बेटे ने क्या कौशल दिखलाया. बेटे की इस व्यावहारिक व्यवसायी बुद्धि पर पिता का हृदय गर्व से भर गया. उन्होंने अपनी पत्नी से कहा, "किसनिया की मां, बेटा होशियार है. लछिमी से घर भर देगा. अपना किसनिया खूब कमायेगा."

पत्नी के झुर्रीभरे मुंह पर तृप्ति की आभा झलक गयी. धुंधली आंखों में एक चमक आयी. दोनों कांपते हाथ श्रद्धा भक्ति से निवेदन के रूप में फैला दिये और मोटे बलगमी स्वर में कहा, "लछिमी मइया, तुम सचला नहीं, पांव तोड़ कर अचला बनकर टाबरों के कने बैठो. तेरी आरती उतारूंगी."

मालूम नहीं, किशनलाल के पिता का आशीर्वाद फलीभूत हुआ या उसकी मां की बात धन की देवी लक्ष्मी को जंच गयी और वे अपना पांव तोड़कर जमकर बैठ गयीं अथवा किशनलाल के कौशल ने काम किया, किंतु वे दिन पर दिन उन्नति करते गये. अपने प्रतिस्पर्द्धियों और ईर्ष्या करनेवालों को वे मात पर मात देते गये. आज कई जूट मिलों, चाय-बागानों और वेजीटेबुल आयल फैक्ट्री के मालिक हैं. कानपुर, अहमदाबाद में कपड़े की मिल खरीदने की बात चल रही है. यह काम उन्होंने अपने बड़े लड़के के जिम्मे कर रखा है और ऋण के लिए दो-एक राष्ट्रीय बैंकों से बात पक्की कर चुके हैं. विश्व-बैंक के साझे में एक पड़ोसी देश में उन्होंने एक पांचतारा होटल खोला है. अरब देशों और पश्चिमी योरोप के देशों में चाय सप्लाई करने का अभी उन्हें एक बड़ा कंट्रैक्ट मिला है. आज उनकी गिनती देश के कुछ बड़े उद्योगपतियों और व्यवसाइयों में हो रही है.

केवल उद्योग व्यापार के क्षेत्र में ही नहीं, राजनीति और समाज सेवा के कार्यों में भी उन्होंने अपना योगदान दिया. जब उनके दोनों बेटे कारबार में उनका हाथ बंटाने लगे तो उन्होंने कुछ समय राजनीति और समाज सेवा में लगाना शुरू किया. बल्कि यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि सेठ किशनलाल का पांव जैसे-जैसे उद्योग व्यापार में जमता गया और समृद्धि बढ़ती गयी, वैसे-वैसे राजनैतिक पार्टियों और सामाजिक संस्थाओं की दिलचस्पी उनमें बढ़ती गयी. देश के प्रति अपनी सामाजिक सेवाओं के लिए वे राज्य सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और समाज सेवा में अपने अवदान के फलस्वरूप उन्हें 'समाज रत्न' घोषित किया गया. अभी पिछले ही साल जब उन्होंने सहस्र चंडी-महायज्ञ का आयोजन किया, तब यज्ञ की समाप्ति पर उन्हें धर्मरक्षक और धर्म-प्राण के रूप में मंच पर सम्मानित किया गया. आये दिन उन्हें सभा समितियों की अध्यक्षता, उद्घाटन तथा मुख्य अतिथि बनाने के लिए लोग घेरे रहते. उनकी इन उपलब्धियों का प्रभाव उनके मिलने-जुलनेवालों पर भी पड़ा, हर वक्त लोग उन्हें घेरे रहते. एक दरबार-सा उनके साथ लगा रहता. इस भीड़भाड़ से जब उनके औद्योगिक-व्यापारिक कार्यों में बाधा पड़ती तो वे झुंझला जाते. इसी प्रकार जब राजनैतिक पार्टियों को चंदे या पचास हजार रुपया पेज के विज्ञापन के लिए दबाव पड़ता तो वे खिझला जाते, किंतु उसी समय उनका हिसाबी मन उन्हें समझाता—यह संपन्नता और औद्योगिक उन्नति सब इसी के प्रतिदान स्वरूप हैं. नहीं तो सत्ता की गद्दी संभाले पार्टियों के नेता उन्हें धूल में मिला दें, उनके प्रतिद्वंद्वी और प्रतिस्पर्द्धी उन्हें हड़प लें और इनकम-टैक्स-कस्टम आदि विभागों के अधिकारी उन्हें सीखचों के भीतर खड़ा कर दें. कुछ न सही तो ट्रेड-यूनियन के नाम पर उनके कल-कारखाने में ताले लगवा दें. इसलिए ऐसे समय में वे मुस्कराते रहते, किंतु आंतरिक सुख-संतोष और राहत उन्हें कुछ खास लोगों के बीच में ही मिलती है, जिनसे वे अपने दिल की बात कह-सुन सकें. ऐसे समय उनके मुंह पर संतोष और आत्म-उपलब्धि का सुख छाया रहता.

आज भी वे अपने ऐसे जिगरी दोस्तों के बीच घिरे थे, किंतु उनके मुंह पर मानसिक उद्विग्नता के चिन्ह थे. एक बार फिर सामने टेबुल पर पड़ी किताबों पर नजर डाली और फिर दीवाल पर टंगे चित्रों को देखने लगे. सभी चित्र राष्ट्रीय नेताओं के साथ खिंचे उनकी विभिन्न मुद्राओं के थे. महात्मा गांधी के साथ चरखा कातते हुए, राज्य सभा की सदस्यता की शपथ ग्रहण करते, पंडित जवाहरलाल नेहरू के स्वागत के लिए हाथ जोड़े हुए, युद्ध में विस्थापित नागरिकों की मदद के लिए चेक देते हुए, शास्त्रीजी के साथ, जगद्गुरु शंकराचार्य का चरण स्पर्श करके आशीर्वाद ग्रहण करते, स्वीमिंग क्लब में वाटरपोलो में विजयी टीम के कप्तान को कप प्रदान करते हुए, गंगा सागर यात्रियों के कैंप का उद्घाटन करते हुए आदि चित्रों पर एक सरसरी नजर डालकर उन्होंने टेबुल पर रखी एक मोटी पुस्तक उठा ली और उसके पृष्ठों को उलट-पुलट कर उसमें छपे कुछ चित्रों को अनमने भाव से देखा और अपने पास बैठे गजानन की ओर बढ़ाकर कहा, "इसे देखा है?"

गजानन ने पुस्तक हाथ में ले ली और उलट-पुलट कर उसे देखने लगे. अच्छे मैपलियो पेपर पर बढ़िया छपाई, इटैलियन आर्ट पेपर पर चित्रों की भरमार. पुस्तक के पन्ने उलटते जाते थे और उनके मुंह पर चापलूसी के भाव उभरते जा रहे थे. उन्होंने आत्मीय स्वर में कहा, "बाबू, मैंने यह किताब कल ही देखी थी. तभी से एक बात मेरे मन में घुमड़ रही है, पर कहने में संकोच हो रहा था. आपने इतना काम किया, आपकी भी कोई किताब बननी चाहिए. इससे भी बढ़िया. लाख-दो लाख गल जायें, कोई परवाह नहीं." वे अभी हाल ही में सेठजी की एक जूट मिल में बने तैयार माल के सोल सेलिंग एजेंट बने थे.

गजानन की बातें सुनकर सामने के सोफे पर बैठे, सुजानमल ने हाथ बढ़ाकर गजानन के हाथ से किताब एक तरह से झपट ली और पुस्तक के ऊपर छपे चित्र को देखा, फिर मोटे अक्षरों में छपे पुस्तक के नाम को पढ़ लिया—सेठ हजारीलाल अभिनंदन ग्रंथ.

उनके पास बैठे गोबर्धन दास ने पुस्तक उनसे ले ली और अपने स्वर में उपेक्षा लाकर कहा, "तो हजारी ने भी अपनी किताब बना ली."

उनके मुंह पर ईर्ष्या और चापलूसी का समिश्रण था, हजारीलाल और गोबर्धन दोनों साथ-साथ पाट की दलाली करते थे. वे आगे बढ़ गये और वे अभी तक ठीक से जम नहीं पाये. किशनलाल ने अपने एक कारखाने में बनने वाले साबुनों की एजेंसी दे दी, तब इधर के सालों में कुछ कमाई हुई है, पर वह मुश्किल से दस-बारह लाख के आसामी बन पाये हैं, जबकि हजारीलाल की गिनती कुछ लोग करोड़पतियों में करने लगे हैं.

उन्होंने किशनलाल से आग्रह भरे स्वर में कहा, "बाबू, मेरी बात मानों तो थारी इससे भी चोखी किताब बने. हजारी आपका पासंग भी नहीं है, क्यों महाबीर?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul K...

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाबीर का बड़ा लड़का किशनलाल के फाइवस्टार होटल का इंचार्ज था और वे किशनलाल के साथ उनकी कोठी पर पड़े रहते और उनके दो नंबर के रुपयों का हिसाब रखते थे.

इस बात का समर्थन महाबीर ने तहेदिल से किया, इस उल्लास से मानो पोते के अन्नप्राशन पर मित्रों की दावत का प्रस्ताव आया हो. बोले, "भाई, तूने मेरे मन-मुंह की बात छीन ली. मैंने बहुत बार यह सोचा और मइया से इशारा किया, पर अपना यह भैया तो नेकी कर और कुएं में डाल वाले सिद्धांत का है, देस-जहान के काम में जीवन खपा दिया और अपनी किताब तक नहीं बनवायी. ऐसा बावला है, मोला बाबा मूतनाथ की तरह. बस, सब को देता ही रहे, ले कुछ नहीं."

फिर उन्होंने गजानन से कहा, "भाया, तू तो पढ़ा-लिखा है. यह तेरी जिम्मेवारी रही. अब हम भाई जी को कुछ नहीं कहेंगे. तेरे से ही जवाब तलब करेंगे. तेरे को ही ओलमा (उलाहना) देंगे. भाईजी को तू ही राजी कर."

गजानन ने अपने को गौरवान्वित महसूस किया. सेठ किशनलाल की ओर देखकर साधिकार स्वर में कहा, "राजी कैसे नहीं होंगे. हमारी इतनी अरदास तो इन्हें माननी ही पड़ेगी."

सेठ किशनलाल का मुंह दायित्व को बोध करके गंभीर हो गया. पहले जो बेचैनी और मानसिक उद्वेलन तथा कुंठा की रेखाएं मुंह पर उभरीं थी, वह शांत हो गयीं, जिस तरह तूफान के शांत होने पर तालाब का जल सुस्थिर हो जाता है.

उन्होंने गजानन के अपनत्व भरे स्वर में कहा, "जो सबकी इच्छा, वह मेरी इच्छा. अब कोई लेखक लाओ."

फिर घंटी बजाकर नौकर को बुलाया. बोले, "कुछ फल-वल ले आओ और हां, केशर डालकर बादाम की कुल्फी-मलाई बनी थी, वह भी ले आओ."

सुस्वाद जलपान की तृप्ति सबके मुंह पर झलक रही थी. सेठ किशनलाल के मुंह पर आत्म-संतोष का भाव था. अब टेबुल पर पड़ी सभी पुस्तकों को उलट-पुलटकर उन्होंने देखना शुरू किया. वे सभी अभिनंदन ग्रंथ थे, जो धनाढ्यों ने लाख-दो लाख के खर्च पर निकलवाये थे. उनकी वंशावलियां, प्रशस्ति, उनके कार्यों की सार्वजनिक संदर्भ में स्थापना, उद्योग व्यापार को देश-हित में ट्रस्टी के रूप में चलाना, विद्याप्रेमी, धर्मात्मा, दानवीर, परदुखकातर आदि विशेषणों से उन्हें विभूषित किया गया था. अच्छे आर्ट पेपर पर उनके तथा उनके परिवारवालों के चित्र, कहीं पूजा अर्चना करते, कहीं किसी टीकाधारी पंडित को दक्षिणा देते हुए, भोजन करते हुए, पुत्र-पुत्रियों के विवाह के अवसर के चित्र, सभी नितांत वैयक्तिक किंतु उनका संदर्भ ऊंचे आदर्शों से संबद्ध किया गया था. स्पाइरल बाइंडिंग और प्लास्टिक का सुनहला जैकेट.

सभी पुस्तकों को उलट-पुलटकर किशनलाल ने रख दिया और गजानन से कहा, "अब बताओ."

इन सब में सबसे ज्यादा पढ़े-लिखे और साहित्यिक गजानन ही समझे जाते थे. कोई वाक्य लिखते तो उसमें जगह-जगह कामा, हाइफन, डैश, इनवर्टेड कामा वगैरह लगा देते, जिससे अपने समकक्ष लोगों में साहित्यकार के रूप में उनकी धाक बैठी थी. इसलिए यहां उपस्थित सभी मित्र अनभिज्ञ की मुद्रा में बैठे रहे. इतने गहन विषय पर उन्होंने कुछ कहना उचित नहीं समझा, लेकिन गोवर्धन ने इतना जरूर कहा. "साहित्त-फाहित्त किस चिड़िया का नाम है, इससे हमें मतलब नहीं, पर हम इतना जरूर कहेंगे कि हजारी की किताब से बीस ही बननी चाहिए, बल्कि सवा बीस."

गजानन ने अपनी महत्ता का बोध किया, "हम जानते हैं साहित्य और लेखकों को. जब बाबू ने लेखक मांगा है तो इनके नाम-धाम के अनुरूप

अंग्रेजी व्याकरण छोड़ो

महादेव कोकाटे कहते हैं--

इंगलैंड-अमरीका में तीसरी-चौथी कक्षा के विद्यार्थी व्याकरण बिना फर्राटेदार शुद्ध अंग्रेजी बोलते हैं. एक माँ (जो अनपढ़ भी हो सकती है) अपने बालक को व्याकरण बिना संसार की कौनसी भी भाषा व्याकरण बिना तीन-चार वर्ष में बोलना सिखाती है. आप भी चौथी कक्षा तक व्याकरण बिना ही शतप्रतिशत शुद्ध हिंदी बोलते थे. है न? उसी तरह अब आप व्याकरण बिना फर्राटेदार अंग्रेजी निश्चित बोल सकते हैं.

ढांचा पद्धति से व्याकरण सहित। व्याकरण बिना केवल एक महीने में अंग्रेजी बोलना सिखाने वाली संसार की एकमात्र टू-इन-वन पुस्तक--

कोकाटे झटपट इंगलिश

लेखक: महादेव कोकाटे, पृष्ठ: चार सौ कीमत: 50 रुपये (पचास)

विशेषतः प्रत्येक क्रियापद के छः तथा सर्वनाम के दो नये अर्थ (यह अर्थ किसी डिक्शनरी में नहीं है) सरल हिंदी भाषा-

अंग्रेजी समाचारपत्रों में आने वाले तीन हजार शब्दों का कोष 'कोकाटे इंगलिश शब्दालम्.' ले. महादेव कोकाटे पृष्ठ 120, कीमत 10 रु. वी. पी. से 16 रुपये.

दोनों पुस्तकें 40 रु. (चालीस रु. भेजकर प्राप्त कीजिए।) वी. पी. से 50 रुपये. बंबई में सर्वत्र उपलब्ध । जल्दी कीजिए 20 रु. बचाइए.

महाराष्ट्र पुस्तकालय

वसईरोड 401202, ठाणे-बंबई.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

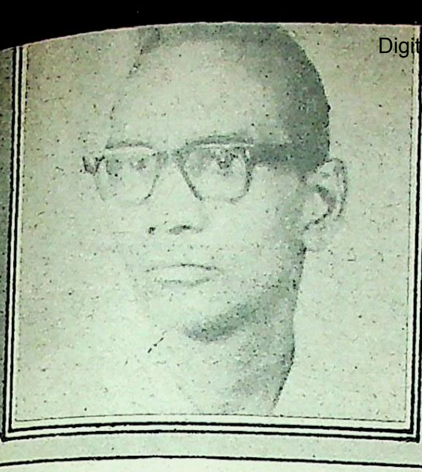

हर्षनाथ

जन्म : 1916 ग्राम : गौसपुर, जिला : वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

अब तक लगभग सौ कहानियां विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. कुछ का बंगला तथा अंग्रेजी के अलावा अनेक साम्यवादी देशों की भाषाओं में अनुवाद. दो कहानी संग्रह और ग्यारह उपन्यास प्रकाशित. एक कहानी संग्रह और एक उपन्यास प्रकाशनाधीन. 'आयुष' नामक मासिक पत्रिका के संपादन से संबद्ध रहे. अब स्वतंत्र लेखन,

ही लेखक दूंगा."

वे चिंतन की मुद्रा में डूब गये. फिर आहिस्ता से धीमे स्वर में राय जानने के रूप में कहा, "सुमंगल कैसा रहेगा? अभी उसने चौथराम की एक किताब तैयार की है, क्या नाम रखा है? हां, याद आया, सात दशकों की पावन यात्रा."

सुजानमल ने पूछा, "यह दसक क्या है? चौथराम पिछले साल बदरी धाम की यात्रा पर गये थे. वहीं कोई मंदिर होगा दसकों का, उसी की यात्रा का हाल लिखाया है क्या?"

सेठ किशनलाल और गजानन के मुंह से हंसी फूट पड़ी. किशनलाल ने मजाक के स्वर में कहा, "भई, तू तो अपनी तेल मिल चला. यह काम छोड़ दे गजानन के जिम्मे. मैंने कुछ सोच-समझकर ही किताब बनाने का काम उनके जिम्मे लगाया है."

फिर उन्होंने गजानन से कहा, "सुमंगल से अपना काम नहीं करवाना है. होशियार है. किताब ठीक बनाना है, पर इस समय वह राधा किशन के साथ जुड़ा है. उनका आदमी है और राधा किशन हमारी किताब को बिगड़वा देगा. अस्पताल वाले मामले में हमसे खार खाये हैं. वह खुद उसके अध्यक्ष बनना चाहते थे, पर मेरे रहते, दाल गली नहीं."

राधा किशन के प्रति वितृष्णा से उनका मुंह विकृत हो गया. फिर संतुलित होकर उन्होंने कहा, "कलकत्ता में लेखक तो एक ही था. बहुत से सेठों ने अपनी किताबें उससे बनवायीं. पैसा तो कसकर अनाप-शनाप वसूलता था, पर उसकी बनाई हुई किताब बस देखते रह जाओ. बाद में तो वह कमीनेपन पर उतर गया. दामोदरजी के पिता की किताब वह बना रहा था. आधी किताब तैयार करते न करते डेढ़-दो लाख खर्च करा दिया, कभी दिल्ली जा रहा है, कभी राजस्थान जा रहा है. काम? टेप करने जा रहे हैं. हवाई जहाज और एयर कंडीशन से नीचे चलता नहीं था. दामोदरजी ने वह भी बर्दाश्त किया. उनके पास कमी क्या है! पर आधी किताब तैयार कर के दामोदरजी को दिखा दी और लिखा हुआ अपने पास रखकर लाख रुपये की डिमांड और खड़ी कर दी. लाओ तो काम आगे बढ़ायें. बात पक्की हुई थी चालीस हजार पर और डेढ़ लाख पा चुका था. सोचा—अब जायेंगे कहां? पर दामोदरजी का सेक्रेटरी बड़ा होशियार है. जब आधी किताब उसने बनाकर दामोदरजी को देखने के लिए दी थी, तो उसने सबकी जैरोक्स करा कर रख लिया था. आगे किताब सुमंगल ने बनायी.

गजानन को एक लेखक की याद आयी. उसे किशनलाल भी जानते थे. उसका जिक्र आने पर किशनलाल ने कहा, "उसे जानता तो मैं भी हूं, पर वह ऐसी किताबें नहीं बनाता. किस्से-कहानी लिखता है. पहले कविता भी जोड़ता था. काम वह भी कर सकता है, पर अकड़ू टाइप का है. तुलसी जयंती पर परिषद वालों ने मुझे मुख्य अतिथि बनाया था. वहीं मैंने एक काम की बात उससे कही. परिषदवाले तुलसी पर कोई ग्रंथ निकाल रहे थे. उसका काम वही देख रहा था. मैंने अलग ले जाकर उससे कहा, "एक मेरे नाम का भी लेख बनाकर उसमें छाप लेना. जो खर्च उठेगा, वह हम दे देंगे, लेकिन वह आलतू-फालतू बकने लगा, पर हम लोग तो व्यापारी हैं, बात करके देखो, पट जाये तो ठीक है."

किंतु कुछ सोचकर गजानन ने कहा, "छोड़िए उसे. हम पंडित ज्ञानचंद्र शर्मा से बात करते हैं. वैसे वे आजकल बड़े व्यस्त हैं."

उन्होंने किशनलाल से कहा, "किंतु एक बार आपको कुछ कष्ट करना ही होगा. उन्होंने काम की हां कर ली तो अपना सौभाग्य है. वे हम सबके पूज्य हैं.

किसी को नहीं मालूम था कि पं. ज्ञानचंद्रजी ने क्या लिखा है. इनके नाम से छपी एक भी साहित्यिक पुस्तक नहीं थी. फिर भी सेठों में एकमात्र वही लेखक माने जाते थे. वे सेठों-सेठानियों को प्रवचन सुनाते थे और उनकी पुत्रियों और पुत्र-बधुओं को साहित्य पढ़ाते थे. इसलिए उनका नाम आते ही सभी आश्वस्त हो गये.

किंतु सेठ किशनलाल को कष्ट नहीं करना पड़ा. गजानन और ज्ञानचंद्र शर्मा में कुछ बातें हुईं और उनके साथ पंडित ज्ञानचंद्र शर्मा चले आये. खद्दर की महीन धोती पर खद्दर का कुर्ता और सिर पर गांधी टोपी. चाल में गरिमा और मुंह पर आरोपित गंभीरता.

सेठ किशनलाल ने खड़े होकर उनका स्वागत किया.

शर्माजी ने अपनत्व के स्वर में कहा, "गजाननजी से मेरी बात हो गयी. आपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया है, आपका जीवन जनता जनार्दन के लिए समर्पित रहा है. आपके अभिनंदन ग्रंथ का कार्य स्वयं करूंगा. यह मेरा कर्तव्य है. शास्त्र का वचन है—अभिनंदनीय का अभिनंदन होना ही चाहिए.

किशनलाल ने जैसे देवता का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया—उनके मुंह पर श्रद्धाजनित गौरव था. सकुचाते हुए उन्होंने कहा, "जो भी सेवा कहेंगे, करूंगा."

ज्ञानचंद्रजी ने उत्तर दिया, "कुछ नहीं, मैं किसी से एक पैसा भी अधिक नहीं लेता. दो लाख इक्यावन हजार एक सौ रुपये मेरा बंधा है, अभी सरलाजी का काम मैंने किया है. आगे आप और जो चाहें."

अभिनंदन समारोह महानगर के सबसे महंगे शीततापनियंत्रित सभागार में हुआ. समारोह की अध्यक्षता केंद्र के एक कैबिनेट स्तर के मंत्री ने की. अभिनंदन ग्रंथ का समर्पण एक सुप्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक ने किया. महानगर के सभी गणमान्य उद्योगपति और नागरिक उपस्थित थे. सेठ किशनलाल को इतना आत्म-संतोष तब भी नहीं हुआ था, जब अपने जीवन में उन्होंने पहली मिल खरीदी थी.

दूसरे दिन पंडित ज्ञानचंद्र शर्मा को देने के लिए सेठ किशनलाल ने नंबर दो के पूरे रुपये और रेशमी उत्तरीय गजानन के साथ भेज दिया. गजानन ने पंडित ज्ञानचंद्र शर्मा के सामने एक लाख रुपये और उत्तरीय रखकर अर्थपूर्ण स्वर में पूछा, "ठीक है ना!"

ज्ञानचंद्र ने लालसा भरे स्वर में कहा, "और?"

गजानन ने कुछ रूखे स्वर में उत्तर दिया, "शर्माजी, सुमंगल यह काम पचीस हजार में कर देता. आपको पचास हजार की बजाय मैंने सवा लाख दिया. अब और क्या दें?"

फिर मुस्कराकर व्यापारी लहजे में कहा, "और भी काम आपको दिलायेंगे. बस, लिखते जाइए."

●सावित्री गर्ल्स कालेज, 13 मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता-700007

CC-0. In Public Domain. Gurukul K

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आबार ऐशो

नरेश मेहता

'सारिका' के इस रजत जयंती वर्ष में जनवरी प्रथम अंक से प्रारंभ इस स्तंभ में हम गत चौबीस वर्षों में 'सारिका' में प्रकाशित प्रत्येक वर्ष की श्रेष्ठ कहानी का पुनर्प्रकाशन कर रहे हैं. इस क्रम में इस बार प्रस्तुत है हिंदी के वरिष्ठ कथाकार श्री नरेश मेहता की कहानी, जो 'सारिका' फरवरी, द्वितीय-१९७९ में प्रकाशित हुई थी...

दुर्गाबाड़ी से संध्यावती के दर्शन करके लौट रहा हूं. सच तो यह है कि मैं न भक्त हूं और न खास धार्मिक वृत्ति का व्यक्ति ही, परंतु जब कभी इस तरह की सदाशयी वृत्तियों के संपर्क में आना होता है, तब जाने कैसी एक सुगंध का आभास मिलता है, परंतु ऐसी पवित्रता के प्रति आसक्ति भी 'फिट' ही समझना चाहिए. दुर्गाबाड़ी की ओर आते-जाते व्यक्तियों-परिवारों को प्रसन्न मुद्रा और भूषा में देखकर चलते हुए विविध चित्रों का भ्रम होने लगता है. उत्सव कैसा ही क्यों न हो, स्त्रियां और बच्चे ही उसकी भाषा होते हैं. रात्रि में होनेवाले नाटक एवं नृत्य के लिए अभी से जगह छेक लेने के लिए अनाम रिनू, टिनू, झूमा, झरना, बोऊमा, माशीमा सब कैसे उत्साह से रिबन बांधे तथा पांव में आलता लगाये चले जा रहे हैं. अनेक हैं, जो दर्शन करके तेज-तेज घर लौट रहे हैं ताकि पत्नी-बच्चों के साथ समय पर अनुष्ठान में पहुंच जायें. एक उत्सव, एक कोलाहल आपकी बगल से गुजरता है, पीछे से खिलखिलाता होता है, सुदूर में घंटियों-सा टुनटुना रहा होता है और दुर्गाबाड़ी के मोड़ के बाद विलीन हो जाता है. लगता है न कि उत्सव मात्र में कैसी मानुषीगंध होती है.

आज नवरात्रि की अंतिम तिथि है. कल देवी की विदा है, विसर्जनोत्सव होगा. कल यह पवित्रता घंटे-घड़ियालों के बीच 'आबार ऐशो मां!' की आर्तता में विदा हो जायेगी. इस विचार से ही कैसा खालीपन लगने लगता है. नवरात्रि का चंद्रमा और इसकी यह प्रसन्न अकलंक चांदनी घरों, पथों पर लिखी पड़ी है. पूरी कॉलोनी में भद्र निस्तब्धता अवश्य है, परंतु रह-रहकर सुदूर में लाउडस्पीकर की आवाज से एक लकीर खिच-खिच उठती है. आश्विन-आकाश में ग्रह-नक्षत्र कैसे धुले गहरे लगते हैं और जिनमें बच्चों की-सी आंखों की निष्कलुष पारद चमक प्रशांत है. आबनूस भी कितना मोहक हो सकता है, यह आश्विन आकाश देखकर ही समझ में आता है. आश्विन की इस दैवीय कृष्णता को यदि कोई काला कहे तो उसे भला क्या कहा जा सकता है!

फील्ड से सटी जो दीवार है, जो कि इस खेल के मैदान को सड़क तथा नाले से पृथक करती है. यहां मैं यदा-कदा आकर बैठता हूं. यहां बैठने पर सदा ऐसा लगता है कि प्रायः तो हम अपने कपड़ों को ही समेटकर बैठते हैं, परंतु ऐसे अकेले बैठते समय हम अपनापन भी समेटकर बैठ रहे हैं. वैसे तो अकेलापन अपने में ही एक अप्रतिम अनुभव होता है, परंतु यहां बैठकर निर्जन खाली सड़क पर चिलबिल करते पेड़ों की छायाएं देखना, बंगलों के उजालदानों से आती पीली रोशनी के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपमा खोजने बैठे रहना काफी दिलचस्प लगता है. उस पर आकाश का असीम गुंबद, प्रायः लगता है कि आकाश अभी अपने ढीले-ढाले बड़े-से चोगे में सामने आकर बैठ जायेगा और आपको अकेले बैठे देख पूछेगा कि तुम्हें अकेलेपन से भय नहीं लगता? सच, आकाश बहुत बातें करता है, पर इसके लिए नितांतता चाहिए, अपनी भी, लेकिन यदि थोड़ी-सी भी आहट हुई तो वह स्त्रियों की भांति चौंककर केवल अलग ही नहीं हो जायेगा बल्कि क्षणांत में करोड़ों प्रकाश-वर्ष दूर चला जायेगा.

आज मैं बहुत कुछ निश्चित मनःस्थिति में ही था. पत्नी-बच्चे पूजा के लिए कलकत्ता चले गये थे. वैसे जाना तो मुझे भी था, पर मेरे न जाने का सबसे प्रमुख कारण यह था कि मैं अपना अधूरा उपन्यास पूरा करना चाहता था. वैसे मैं जानता हूं कि वह शायद पूरा नहीं कर पाऊंगा. वह इसलिए कि परिवार के न होने पर या तो घर काटने दौड़ता है और तब सिर्फ कॉफी हाउस में गपबाजी अथवा किसी के यहां मसनद पर बैठे हुए दुनिया-जहान एक करते रहना बहुत ही अच्छा लगता है.

कहीं जाने को मन नहीं होता है. केवल किताबों से घिरे रहना अथवा खिड़की की राह पीछे की कच्ची जमीन में से दाने खोजती चिड़ियों का अथक पुरुषार्थ देखते रहना या आकाश में अपने को भीगे वस्त्र-सा फैला लेना, खूब ही अच्छा लगता है. तब ऐसा लगता है कि एक एकांत बांसी बहुत ही मंद स्वर में बज रही है और आपको पूर्ण तृप्ति मिल रही है. वैसे यहां मैं संभोग-सुख की उपमा देकर बात स्पष्ट करना चाहता था, परंतु मुझे लगा कि शायद किसी को यह बात अभद्र लगे, इसलिए नहीं कहा. इस बार मैं घर से निकलना ही नहीं चाहता रहा. गालिब की मनःस्थिति जैसी ही 'कि बैठे रहें तसव्वरे जाना किये हुए' परंतु चलते समय पत्नी लगभग आदेश कर गयी थी कि मैं 'अंजलि' देना न भूलूं. सो आज सबेरे 'अंजलि' देने भी गया था और फिर मन हो आया कि आरती का दर्शन भी कर लिया जाये.

आज पूरी दोपहर उस उपन्यास से जूझता रहा. उपन्यास क्या, कहना चाहिए कि उसकी नायिका से माथापच्ची करता रहा. और हर बार यही लगा कि वह पर्दा थामकर, मुस्कराते हुए अपरिग्रहा बनी खड़ी है. उसके नेत्रों में काजल नहीं, बल्कि एक वाक्य अंजा पड़ा है कि क्या तुम मुझे सच ही लिखोगे?— और हर बार की भांति मैं आज दोपहर भी विवश ही हुआ. वह मुझे एक अंधे मुहाने पर ले जाकर खड़ा कर देती है, वह यह कि प्रेमिका होना एक बात है और उस होने की प्रतीति होना तथा करवा देना सर्वथा भिन्न बात है. प्रायः तो स्त्रियां, बमुश्किल-तमाम बस स्त्रियां होती हैं, जिनमें से क्वचित ही प्रेमिकाएं बन पाती हैं. और अपनी प्रतीति की सुगंध सौंप सकने वाली तो अत्यंत ही विरल होती हैं. किसी के मन या स्मृति के वस्त्रों में अपनी सुगंध को छोड़ जाना कितना कठिन होता है. और सच तो यह है कि रोज के सांसारिक पचड़ों-खटरागों में किसी की ऐसी महीन, बारीक तथा कोमल सुगंध को अपनी स्मृतियों की तहों में सहेज-समेट रखना भी खासी परिश्रम-साध्य प्रक्रिया है. इत्रों के सहेजने जैसा ही है और इसके लिए सामंती व्यक्तित्व ही अपेक्षित है. सामान्यतः तो पुराने फोटो-एलबम की तरह ही होता है कि उड़े-उड़े रंग-रूप के आभास-आकार वाले चित्र ही शेष रहते हैं. कभी-कभार एक हल्की-सी ललक भी उठती है कि उस उड़ी-बीती सुगंध को बस पकड़कर थामे ही रहें. उसे अपने वस्त्रों में, मन पर खूब सारा मल डालें, परंतु तब तक दैनंदिन, रोज हमारे सामने फिर आ खड़ा हुआ होता है. कटु यथार्थ वाले रोज को सामने खड़ा देख हमारे मन की उत्सवता कैसी पीली पड़ जाती है न! जब मन या देह स्मृति प्रवान हो जाते हैं अर्थात् बूढ़ा जाते हैं, तब जिस प्रकार हमारे पैर घर-आंगन के चिर-परिचित पक्ष तथा समतलता पर भी वैसे संभल-संभलकर चलने लगते हैं, उसी प्रकार जब अपनी स्मृति की तहों में अनायास कोई ऐसी प्रतीति सुगंध का झोंका आ जाता है, तब कुछ देर के लिए ही सही, वैसी कैशोर्य ताजगी आ जाती है और हम अपने प्रकंपित हाथों से उसे छूना ही नहीं चाहते, बल्कि वे हाथ ही जैसे हमारी भाषा बनकर उस अमूर्त देह पर लिख उठने को आकुल हो जाते हैं. कैसा मन करता है न कि जैसे हठात तीस वर्ष पुराने फोटो में अपने सारे काले बाल देख लिये हों और हम आकुल हो उठें. एक गुलाल-भाव पूरी देह में, मन में संपन्न होने लगे. जैसे यह प्रतीति सुगंध पितृपक्ष के अलसदिनों में खिलने वाली गुलमेंहदी है, जो अपनी धरती पर पांखुरी-उत्सव फैलाकर कैसी अनुष्ठान बनी हुई है. इन कागजी पतले फूलों को देखकर लगता है न कि रात्रि के किसी समय, बिना कोई आहट किये प्रिया आयी थी. प्रिया आगमन की ये पंखुरियां कहीं बिखर न जायें, यह आशंका ही हमें हरश्रृंगार-सा झकझोर जाती है. बारंबार उस अधूरे उपन्यास की नायिका के संदर्भ में जब मेरा मन पुराने टसर की भूषा-सा कल्याणी के स्मरण मात्र से सुगंधित हो आया तो देखा कि आंगन में गुलमेंहदी अपनी छोटी-सी पादप-भूमि पर पहाड़ी कलम से उकेरी गयी किसी रागिनी का चित्र लग रही है. इस 'दुईपाटी', इस गुलमेंहदी को भला क्या कहता? मनुष्य का मन भी क्या है कि वह न व्यक्ति देखता है, न स्थान. कुछ देर पहले ही आरती के समय प्रतिमा कब देवी से कल्याणी हो गयी, समझ ही न सका. मुझे अपने पर ग्लानि ही हुई कि जीवन के इस उत्तरकाल में लोगों में भक्ति भाव जागृत होते सुना है और एक मैं हूं. न जाने कितनी आसक्ति मुझमें कल्याणी को लेकर अभी भी है. हे प्रभु, क्या मैं कभी इस जंजाल से मुक्त हो भी सकूंगा?

कल्याणी!

हां कल्याणी, मन के निभृत एकांत में वर्षों तक सूम के धन की भांति जिसकी स्मृति को अपनी पृथ्वी में गाड़े उस पर सांप-सा बैठा रहा, परंतु कहते हैं न कि लक्ष्मी धरती के भीतर भी चलती है. वैसे ही चलते हुए कल्याणी मेरी पकड़ से निकल, मेरी धरती को फोड़कर आज जब हठात ऊपर आ गयी तो स्वीकारना पड़ रहा है कि कल्याणी मेरी प्रेमिका थी या है या जो भी आप कहना चाहें. अब न मेरे लिए और न ही कल्याणी, किसी के लिए भी कुछ फर्क नहीं पड़ने का. जब तक समाज का दबाव हम पर होता है, तब तक हम गोपन-व्यवहार करते होते हैं, परंतु जब हमारा दबाव समाज पर हो जाता है, तब समाज गोपन व्यवहार करने लगता है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैसे आप उत्सुक या उत्साहित न ही हों तो अच्छा है, क्योंकि हमारा प्रथम साक्षात् ही नहीं, बल्कि हम अलग भी अत्यंत सामान्य रूप में संतुलित मनःस्थिति में ही हुए. थोड़े बहुत आकार-प्रकार का अंतर भले ही हो, परंतु था सब कुछ सामान्य ही. भावनाएं निश्चित ही तीव्र थीं, परंतु विशिष्टता अवश्य रही कि हमने कभी भावुकता को ऐसा प्रदर्शित नहीं होने दिया कि कालांतर में स्वतः ही हास्यास्पद लगे. जैसा कि होता है, शायद इसीलिए कभी कटुता भी नहीं आयी. यह ठीक है कि आरंभ में थोड़ा खिंचाव लगा जो स्वाभाविक भी था, परंतु आपसी समझ के कारण अपने-अपने विवाहों के बाद हमारे परिवारों में क्रमशः ऊष्मा ही बढ़ी. जब कभी बरस-दो बरस में हमारे परिवार एक दूसरे के अतिथि बनकर आते-जाते तो किसी ने भी उसमें कोई अतिरिक्त अर्थ या अन्यथा संदर्भ ढूंढने की चेष्टा नहीं की. सुखी, संतुष्ट, संतुलित एवं सफल व्यक्तियों, परिवारों की जो भी पहचान हो सकती है, वह हमारे परिवारों में रही है. अब यह बात अलग है कि कभी-कभार चटखारे के खयाल से मेरी पत्नी ने या कल्याणी के पति ने डाइनिंग-टेबल पर नाश्ते के समय या डिनर पर या कल्याणी के घूमने जाने के समय मेरे रूमाल में भी अपना सेंट, जो कि उसे मालूम है कि वह गंध मुझे प्रिय है, लगा दिया हो तो उस पर छींटाकशी कर दी हो, पर यह तो एक प्रकार का खुलापन ही है. ऐसी बातों में भी अतिरिक्त अर्थ खोजने बैठा जाये तो जीना ही दूभर हो जाये.

गर्मियों की दोपहर में जब भी ताश होती तो नियमतः मैं और कल्याणी पार्टनर होते तथा मेरी पत्नी और उसका पति दूसरी ओर होते. कल्याणी को कभी ताश की तमीज नहीं आयी, परंतु उत्साह सबसे अधिक होता. खैर, हारना-जीतना तो जो होता, सो होता ही, पर पूरे पत्ते मिल जाने पर, अपने पत्ते देख जाने के बाद जिस भाव से कभी-कभी देखने लगती, उसमें ऐसा लगता कि वह खेल के बारे में या पत्तों के बारे में नहीं, बल्कि कुछ अन्य ही कह रही है. शायद किसी पुरानी बात की पुनरावृत्ति कर रही है. मुश्किल यह है कि प्रत्येक स्त्री की अपनी भाषा, शैली, वाक्य ही नहीं, बल्कि व्याकरण तक भिन्न होता है, जिसका आपके व्याकरण से दूर-दराज का भी संबंध नहीं होता. हम, आप लाख मानें कि वर्षों बाद किसी के लिए इतने पीछे कब और कहां तक लौट पाना संभव है. भले ही यह कामना कितनी ही रूमानी क्यों न हो कि प्रिय के साथ आप कंपनी-गार्डन की एक एकांत बेंच पर बैठे हुए फूलों की क्यारियां देखते हुए किसी निजी वाक्य की मिठास भोग रहे हैं. फाल्गुन आपके चारों ओर पंख फड़फड़ाते कबूतर-सा हवा में चित्र बना उड़ रहा है—और हठात् आपने पहली बार प्रिया का प्रकंपित हाथ अपने हाथों में गह लिया—इतने वर्षों बाद यदि ऐसा ही आमंत्रण पुनः किसी की आंखों में आपको दिखे तो आप कैसा महसूस करेंगे? मुझे प्रायः असुविधा हुई है कि खेल-खेल में कल्याणी यह यथार्थ कहां से ले आयी? और अब इस प्रकार की भावुकता का क्या प्रयोजन है? परंतु कल्याणी में एक अजीब प्रकार का आत्मविश्वास है कि उसे इस प्रकार देखने में न अन्यथा, न झिझक, न संकोच, न अप्राकृतिक कुछ भी तो नहीं लगता. उसका पति या मेरी पत्नी कुछ सोच सकते हैं. शायद उसे इसकी भी कोई चिंता नहीं होती, जबकि उसको देखकर यही लगता कि जैसे वह कह रही है कि यदि ये लोग हैं, तो क्या वह नहीं है? वह दूसरों के लिए यदि प्रायः होती है तो क्या कभी अपने लिए नहीं हो सकती है या नहीं होना चाहिए? और यदि अपना होना व्यक्त करते समय दूसरे अनुपस्थित होने की आधारभूत शालीनता नहीं बरतते तो वे जानें. और इसके लिए कोई कब तक अपना होना व्यक्त न करे?

अनेक बार कल्याणी को ऐसे मुग्धभाव से देखते हुए मैंने ही नहीं, उन दोनों ने भी देखा है. शायद कुछ चौंके भी हैं, परंतु कल्याणी के लेखे कहीं कुछ नहीं. वह तो निर्व्याज व्यक्त होती बैठी होती है. शायद इसीलिए उसमें कहीं कुछ छल भी नहीं होता. एक स्पष्ट पारदर्शिता ही होती है. स्त्रियां, एक सीमा के बाद जब सारी स्थितियां उनकी पकड़-पहुंच में आ जाती है, तब वे पुरुषों से अधिक आश्वस्त एवं निर्द्वंद्व हो जाती हैं, जबकि कैसा ही पुरुष अपनी सारी प्रभुता के बाद भी कुछ न कुछ निरीह रहता ही है, परंतु मैं कल्याणी के प्रति अन्याय ही करूंगा यदि यह नहीं बताता कि ऐसे देखने में उसका कोई अतिरिक्त संकेत जैसा कुछ नहीं होता. एक ऐसी सहजता जैसे वह अपनी देह वहन कर रही है. यह शायद उसकी प्रकृति है कि जब वह देखती है या कुछ भी करती है तो उसमें एकाग्र संपूर्णता ही होती है. दुराव या दुरभि न तो उसके स्वभाव में है और न उसके चरित्र में. वह प्रायः कहा करती थी कि यदि वह मुझसे विवाह न कर सकी तो अपने पति को मेरे बारे में सब कुछ बता देगी. मैंने उसे ऐसी नादानी न करने के लिए ही कहा होगा, परंतु स्त्री अपने ढंग से ही वाक्य-रचना करती है. मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि वह सब कुछ नहीं, तो बहुत कुछ पति को बताये बैठी हो. वैसे पढ़ा-सुना तो यही है कि स्त्री मात्र में आत्म-सुरक्षा की प्रवृत्ति वैसी ही प्रकृत्या होती है, जैसी कि कुछ जीवों को तैरना प्रकृत्या आता है. इसीलिए वह ताश के पत्तों के पीछे से देखते-देखते सहज ही अतीत से वर्त्तमान में निर्भाव लौट भी आती है लेकिन उस क्षण तो ऐसा लगता है कि जैसे मत्स्यगंधा और पाराशर नाव में बैठे हैं और बाकी के यात्रियों के तथा उनके बीच धुंध छा गयी है. नहीं, बल्कि ऐसा भी लगता कि जैसे वह अपने प्रसाधन-कक्ष में निश्चित है और मैं अनायास उपस्थित हो गया हूं. दोनों हाथ पीछे किये वह अपनी ब्रेसरी का हुक ठीक कर रही है या बाहर वाला पेटीकोट सिर ऊपर से पहनने को गले में डाले है और घरवाला नीचे गिरा पड़ा है. यह बाहर वाला जूड़े के किसी कांटे में अटक गया है, जिसे वह ऊंचे हाथ होने के कारण सिर हिला-हिलाकर छुड़ा रही है. ऐसे गोपनीय एकांत अवसर पर भी मेरे उपस्थित होने के प्रति 'कोई बात नहीं' का ही भाव उसके किंचित झिझक से हंसते नेत्रों में होता. एक और भी कि उस दृष्टि में मुझे कभी-कभी ऐसा भी लगा है कि जैसे एक उपालंभ भी है कि—'बस?'

परंतु उपन्यास की नायिका से अधिक यह मेरी नायिका हठात कैसे और क्यों इतने विशद रूप में मुझे घेर बैठी? समय का पता ही नहीं चला न? बहुत देर तो नहीं हो गयी होगी. वैसे आश्विन संधिमास है, परंतु इस वर्ष वर्षा की अधिकता के कारण जल्दी ही ठंड आ गयी लगती है. साथ ही इस वर्ष कीड़े भी कुछ अधिक ही हैं. यों भी इन दिनों खंभों के पास से निकलना मुश्किल ही होता है. बिजली से इतनी दूर होने पर भी कीड़े कैसे टूटे पड़ रहे हैं. यदि कल्याणी के बारे में न सोच रहा होता तो घर लौटकर उपन्यास की नायिका से ही कुछ कहता-सुनता. शायद वह वैसे ही पर्दा थामे मेरे लौटने की प्रतीक्षा भी कर रही हो. लेकिन यह मेरा भ्रम ही है कि वह मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी. स्त्री, वह चाहे कोई हो, यथार्थ या काल्पनिक, पहले स्वयं प्रतीक्षा करती है, परंतु बाद में प्रतीक्षा करवाती है. जो हो, आज सब मैं सोचता हूं कि कल्याणी क्यों मेरी नहीं हो सकी, तो यह लगता है कि उन दिनों उसको लेकर मेरे मन में जो प्रेम था, वह प्रेम से सम्मान नहीं तो प्रशंसाभाव है अधिक था, और इन दिनों उसको लेकर मेरे मन में जो पुनः आकर्षण उपजा है, तब लगता है कि कल्याणी को अब प्रेम नहीं, सम्मान या प्रशंसाभाव चाहिए, जबकि अब मैं उसे प्रेम ही दे सकता हूं. तो क्या इसीलिए कल्याणी मेरे लिए सदा अप्राप्य रहेगी? और यह क्या मुझे मान लेना चाहिए? परंतु मनुष्य क्या तर्क से सदा विवेकी बातें मानता आया है, जो मैं ही मान लूंगा? काश, कभी कल्याणी को अपना यह सारा संकल्प-विकल्प खोलकर बता सकता होता. परंतु आज यह कल्याणी की चर्चा चली कैसे? जबकि उपन्यास की नायिका से कल्याणी का कोई संबंध भी नहीं है. लेकिन ऐसा प्रायः हुआ है कि आप फूल देख रहे हैं या आकाश, अभी देखना आरंभ ही किया है कि लगता है कि केश खोले कल्याणी पार्श्व में खड़ी है. प्रायः हंसा हूं कि यह मानवीय प्रकृति भी क्या है, अप्राप्य के पीछे ही भागती है. जरूर इसमें कुछ सुख मिलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नरेश मेहता

कविता लिखना 1935 के आसपास शुरू किया, लेकिन कथाकार के रूप में भी पर्याप्त प्रसिद्धि हासिल की. पहला उपन्यास 'डूबते मस्तूल' 1954 में प्रकाशित हुआ. दूसरे उपन्यास 'यह पथ बंधु था' ने इन्हें हिंदी के अग्रणी उपन्यासकारों में प्रतिष्ठित कर दिया. इस उपन्यास के नायक श्रीधर पर पलायनवादी और नपुंसक होने के आरोप का जवाब देते हुए नरेशजी कहते हैं—'श्रीधर की असफलता ही उसे उपन्यास का विषय बनाती है. एक ईमानदार आदमी की नियति है कि वह कभी सफल नहीं होता.'

होगा. नहीं तो आदिकाल से यह सब क्यों होता? मनुष्य को मृग नहीं, स्वर्णमृग चाहिए.

घर के निकट पहुंचते ही मेरा माथा ठनका कि मेरे कमरे से यह प्रकाश कैसा आ रहा है? पत्नी के लौट आने का प्रश्न ही नहीं था. तब! मेरे कमरे का जहां तक सवाल है सिवाय मेरे और पत्नी के, उसमें कोई नहीं जाता. बच्चे भी नहीं. इसका कारण यह नहीं कि वहां कोई हीरे-मोती रखे हुए हैं. असल में यह मेरा अध्ययन-कक्ष है, जहां कागजों-किताबों का ऐसा अंबार है तथा इतनी अव्यवस्था है कि उसे दूसरा कोई यदि भूल से ही अपनी सदाशयता में व्यवस्था देने की कृपा कर बैठे तो मेरी सारी नियोजित अव्यवस्थात्मक व्यवस्था ही गड़बड़ा जाये. जो कागज, जो किताब जहां है, वह उसी प्रकार वहां है जैसे कि लंदन, लंदन की जगह है और हिमालय, हिमालय की जगह. इन्हें हटाकर जरा देखिए कि क्या नतीजा निकलता है. इसलिए नौकर भी पत्नी की उपस्थिति में ही आवश्यक सफाई कर सकता है. तब भला ऐसी स्थिति में मेरे कमरे से प्रकाश आने का अर्थ? चिंता से अधिक जिज्ञासा हुई.

कॉलबेल बजायी. बरामदे का भारी पर्दा हटाकर भोला को दरवाजा खोलना चाहिए था, पर नहीं, वह नहीं था. तब कौन?

"अरे कल्याणी?"

कल्याणी की भूषा ही नहीं, व्यक्तित्व तक से यात्री होने का परिचय मिल रहा था.

"हां, क्यों? चौंके क्यों?"

"कुछ नहीं, पर तुम कैसे?"

"कैसे क्या, क्या मैं यहां नहीं हो सकती हूं?"

"नहीं, तुम यहां क्यों नहीं हो सकतीं. . . फिर भी! ! कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं लखनऊ में होऊं या. . ."

कल्याणी दरवाजे की चौखट में मध्यकालीन नायिका के आदमकद अप्रतिम चित्र जैसी लग रही थी.

"या क्या?"

"या? हां, पता नहीं, मैं क्या कहना चाहता था—कभी-कभी किसी के बारे में इतना सोचना कितना सच हो जाता है न? मैं पता नहीं क्या कहना चाहता रहा."

"किसके बारे में सोचना सच निकला. कहीं मेरे बारे में तो नहीं? खैर, तुम जो भी कहना चाहते रहे होगे, वह नहीं कह पा रहे हो."

स्त्री कितनी जल्दी पुरुष में अपनी गंध सूंघ ले जाती है. सहज होते हुए मैंने पूछा, "वो भोला क्या हुआ?"

"क्यों? भोला को क्या होना था? वह खाना बना रहा है और क्या!" वह मुझे मार्ग देती आगे थी. मैंने छड़ी टांगते हुए देखा कि वह लौटकर गयी और पर्दा ठीक कर दरवाजा बंद कर रही है. जिस अप्रयास भाव से उसने स्वागत किया, पर्दा ठ[illegible]क किया और दरवाजा बंद किया, उसमें जैसे वह तो यहां थी और मैं ही आया लग रहा था. स्त्री को संकोचते और फैलते, दोनों में देर नहीं लगती. कैसा अविश्वसनीय लग रहा है कि जिस समय फील्ड पर बैठा हुआ मैं इस कल्याणी के बारे में सोच रहा था, उसी समय वह यहां होगी, इसकी मैं कल्पना ही नहीं कर सकता था. मुझे लग रहा है कि कहीं अवश्य भूल हुई है. यह कैसे संभव है कि कल्याणी बिना किसी पूर्व सूचना के आ जाये. वैसे यह असंभव नहीं है, जो कि सिद्ध ही हो गया, पर अतार्किक अवश्य है. पर शायद स्त्री के संदर्भ में तर्क करना स्वयं ही अतार्किकता है. कल्याणी सामने की कुर्सी पर बैठते हुए इस भाव से बोली जैसे कि उसके हाथ में बुनाई है और वह फंदे गिनते हुए साधारण-सी रोजमर्रा की कोई बात पूछ रही है, "मेरे हठात् आज आने को लेकर परेशान हो न?. . . शायद असुविधा भी हो रही होगी!"

कल्याणी ने जैसे मुझे रंगे हाथों पकड़ लिया. उसकी इस बात से सहमत होना तो बहुत ही छोटापन होता, परंतु असहमत होने के लिए भी तो आधार चाहिए. और मनुष्य, वह कोई हो, न तो इस प्रकार हठात् पकड़ा जाना ही पसंद करता है और न ही पकड़े जाने पर स्वीकारना.

"नहीं तो, असुविधा की क्या बात है इसमें?. . . यह भी तो तुम्हारा ही घर है."

"सच!"

और किंचित आंखें फैलाकर जिस प्रकार वह हंसी, उसमें मुझे लगा कि उसने मुझे बोतल में बंद कर दिया है या फिर अपनी तर्जनी और अंगूठे के बीच पकड़कर बता दिया है कि इतनी ही तुम्हारी हैसियत है, क्यों बनते हो? मैं उसके पति और संभवतः बच्चों के बारे में पूछता, पर वह तो बाढ़ लग रही थी, एकदम दो कदम आगे.

"औपचारिकता में तुम जिन लोगों के बारे में पूछना चाहोगे, उनमें से कोई भी साथ नहीं है. वे सब कुशल से हैं. हां, मैं अकेली ही आयी हूं."

उसने एक साथ इतनी चालें चल दी थीं कि मेरे पास अभी ठीक तरह से चलने के लिए पहली चाल ही नहीं थी. बोला, "अकेली?"

मेरा खयाल है कि मेरे इस पूछने में कहीं भी घबराहट नहीं होगी, परंतु न जाने कैसे बूझ ले गयी और बोली, "घबराओ नहीं. सबेरे ओबरा के लिए गाड़ी लूंगी. वैसे रिटायरिंग-रूम में जगह भी थी, रुक भी सकती थी, परंतु इस प्रकार अकेले स्टेशन पर खड़े रहना बड़ा अनाथ लगता है न, कि इतनी बड़ी दुनिया में आपका कोई नहीं है. और फिर भ्रम तो है ही कि अगर तुम्हें कभी मालूम हो गया तो शायद तुम्हें बुरा लगे."

इतनी ही देर में मेरे चारों ओर अच्छा-खासा जाला बुना जा चुका था. वह 'सूर्या' का ताजा अंक देखने लगी, जिसमें मंत्री-पुत्र 'ब्लू-फिल्म' के नायक बने हुए थे. कल्याणी जिस प्रकार निश्चित दिखलाई दे रही थी, उसमें उससे प्रश्न करना संभव ही नहीं था और

CC-0. In Public Domain.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर मेरा तो यही अनुभव है कि पूछे जाने पर स्त्री अपना नाम क्या, छाया भी नहीं दाबने दे सकती है, परंतु यदि आप में धैर्य है तो वह आपकी उंगलियों के बीच विनम्र- जल-सी बिछल जायेगी और संभव है कि स्पर्श के सुख से आपको ओत-प्रोत भी कर दे.

खाना खिलाकर भोला के चले जाने के बाद कल्याणी घर और घर की वस्तुओं के बीच ऐसे खड़ी थी जैसे वह रोज यहां ऐसे ही खड़ी रहती है और लगा कि चीजें भी उसे स्वामिनी के रूप में ही ताकती मौन हैं. स्त्री में यह एक अजीब सहजता होती है कि उसे स्थान, परिस्थिति और व्यक्ति किसी को भी स्वीकारने में विशेष असुविधा नहीं होती, जबकि पुरुष अभी यही सोचता होता है कि इस हाथ को कहां रखूं या यह तौलिया इस घर में कहां टांगना ठीक होगा, परंतु स्त्री अपनी छठी इंद्रिय से सही-सही चीनी के डिब्बे पर ही हाथ रखेगी. वह बोली, "तुम्हें काम करना होगा न? इधर क्या लिख रहे हो?. . . मेरी चिंता मत करो, मैं यहां ड्राइंगरूम में ही सो जाऊंगी."

कितने विभिन्न स्तरों पर वह बात चला रही थी.

"नहीं, तुम ड्राइंगरूम में क्यों सोओगी? मैं तो अभी थोड़ा काम करूंगा. तुम आराम से बेडरूम में सोओ."

उसने मेरी बात का उत्तर न देकर पूछा, "क्या लिख रहे हो आजकल?"

"उपन्यास, देखो पूरा हो जाये."

"इस बार किसकी शामत है?"

"क्या मतलब?"

सच, मैं कल्याणी की बात सहसा नहीं समझ पाया, परंतु क्षणांत में ही उसकी बात में निहित व्यंग्य कौंध गया. मैं ही बोला, "तुम क्या सोचती हो कि लेखक हमेशा अपने जीवन में आयी. . ."

बीच ही में टोकते हुए वह बोली, "चलो मान लेते हैं कि ऐसा नहीं है, पर यदि हो भी तो क्या बुरा है? आखिर लोग लेखक के जीवन में आते क्यों हैं?"

"इसका मतलब कि लेखक के जीवन में कोई आये ही नहीं?"

"किसी को आने से कोई रोक कैसे सकता है? घर में दरवाजा किसलिए होता है?"

"कल्याणी, तुम नहीं जानती कि मैं. . ."

फिर हठात् टोका, "भगवान के लिए वे बातें न दुहराना कि लेखक स्त्री का सम्मान करता है. स्त्री महान होती है."

"मैं लेखकों की बात नहीं करता, परंतु अपनी बात तो कह ही सकता हूं कि. . ."

"छिः छिः तुम क्या किसी दिन सच नहीं बोलोगे?"

"यह मेरा कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि मैं तुम्हें कभी विश्वास नहीं दिला सका कि. . ."

"बीते पर परिताप करने से लाभ?. . . स्त्री के प्रति श्रद्धा, सम्मान आदि बातें एक उम्र तक कहना-सुनना कितना अच्छा लगता है, तब जीवन को हम किताब समझ रहे होते हैं न?. . . हे भगवान, मैं भी कैसी हूं. अभी तुम कह चुके हो कि तुम्हें लिखना-पढ़ना है और मैं औरतों की भांति जुएं मारने लगी."

"जुएं मारने?"

"और नहीं तो क्या, जिन बातों पर विश्वास न हो, उन्हें कहते सुनना-बैठना जुएं मारने जैसा ही तो है."

"पहले तो तुम इस तरह की बातें नहीं करती थीं."

"तो आज के पहले चालीस की हुई भी कब थी?"

फिर भी उसका हाथ जूड़ा ठीक करने लगा. शायद कोई काल्पनिक कांटा निकल आया था.

"सच ही तुम चालीस की हो गयीं?"

"हां, थोड़ा समय ज्यादा तो लगा, पर आखिरकार हो ही गयी. . . क्या बहुत लेट हो गयी? मेरा खयाल है अब तो मैं खासी रेस्पेक्टेबुल लगने लगी हूंगी, नहीं क्या?"

और वह ढेर-सी खिलखिला आयी. मुझे लगा कि कल्याणी साधारण नहीं रह गयी है. कहीं कोई शूल चुभा है, जो गहरे धंस गया है. निकालने के प्रयास में प्रायः कनी टूट जाती है और धंसी रह जाती है. जरा-सा दबाव पड़ने पर पियराने लगती है. मैंने शायद बात समाप्त कर देने के लहजे में कहा, "क्या कल जाना बहुत ही जरूरी है?"

"जाना तो जरूरी है. कल से उसका संबंध हो भी सकता है. सोच कर तो यही आयी हूं."

"तुम ओबरा क्यों जा रही हो?"

"ओबरा?. . . शायद मैं नौकरी करना चाहती हूं."

"कोई नौकरी क्यों करता है?"

"तुम नौकरी करो, ऐसी क्या आफत आ गयी है?"

"क्या नौकरी आफत आने पर ही की जाती है?"

"कम से कम तुम्हारे संदर्भ में ऐसा सोचना बहुत गलत भी न होगा."

"क्या मुझ पर कभी कोई आफत नहीं आ सकती है?"

"ऐसा अशुभ क्यों सोचती हो?. . . देखो कल्याणी, यह हठात आना, अकेले आना, नौकरी के लिए ओबरा जाना यह सब क्या है?"

"इसमें रहस्य कुछ भी नहीं है."

"तब फिर?"

"तब फिर क्या?"

"मेरा मतलब है कि सारी बातें खोलकर बताती क्यों नहीं हो?"

"कोई पूछे, तब न कोई बताये?"

"अच्छा बताओ, क्या बात है?"

"क्या बताऊं? सब तो कह चुकी. क्या बताया नहीं कि हठात आयी हूं, अकेली आयी हूं और नौकरी भी करना चाहती हूं."

"लेकिन क्यों?"

"क्यों क्या? बच्चे बड़े होकर अपने-अपने काम में लग गये. इतने लंबे दांपत्य के बाद सभी जानते हैं कि पति-पत्नी में आकर्षण रह ही नहीं सकता, तब क्या हो? मुझे लगा कि संपन्न वर्ग की महिलाओं की सबसे बड़ी समस्या उनका खाली समय ही है. शृंगार-प्रसाधान हो गया. पार्टियों में हा-हू कर लिया. .. उसके बाद? और क्या रोज-रोज इस सबसे जी नहीं घबरा उठेगा? एक सीमा के बाद इन सबसे मन भी तो वितृष्ण हो जाता है. गहनों, कपड़े-लत्तों, मार्केटिंग को लेकर कोई कितना माथा फोड़े? सवाल तो है कि उसके बाद क्या? ड्रेसिंग-टेबल के सामने एक बार खड़े रहो तो वही बात और दस बार देखो तो वही बात. नाक, नाक ही रहेगी, आंखों को खींचकर तो बढ़ाया नहीं जा सकता. और फिर हो गया जो होना था. आखिर कब तक? पुरुष तो अपने काम काज में बझा रहता है. इष्ट-मित्रों में. बाहर थोड़ा बौद्धिक वातावरण मिल ही जाता है, पर स्त्री क्या करे? वही की वही मिलनेवालियां हैं. किधर ही से देखो मिसेज कपूर, मिसेज कपूर ही रहेंगी. श्रीमती साहनी को मरने के दिन तक अपने पद्मिनी होने का गुमान कम तो होने से रहा. मुसीबत तो उसकी है न, जो इस विषमता को समझती है. ऐसी मनःस्थिति वाले को ही खालीपन लगता है."

"क्यों, करने को क्या नहीं है? कितने सारे. . ."

"भगवान के लिए सामाजिक सेवा कार्य वाले किसी चोंचले का सुझाव मत देना. इन चोंचलों से बड़ा कोई दूसरा छल नहीं होता."

"लगता है, बहुत अनुभवों से गुजरी हो."

"कोई खास तो नहीं, परंतु स्त्री होना भी एक खास खतरनाक अनुभव में से गुजरना ही है."

."लगता है, स्त्री होना पसंद नहीं आया!"

"बिल्कुल भी नहीं. . . एक दिन स्त्री बनकर देख लो. एड़ी-चोटी का पसीना एक न हो जाये तो कहना."

"इसके पहले तो तुम कभी ऐसी बेबाक बातें नहीं करती थीं."

"हां, मेरी यह फैकल्टी जरा देर से ही विकसित हुई. हो गयी, यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आबार ऐशो' यानी संगीत-लहरी का-सा प्रभाव

नरेश मेहता का कवि उनके कथाकार से अधिक चर्चित रहा है. मूलतः वे कवि हैं भी, किंतु जब वे कहानी लिखते हैं तो एक विशिष्ट भाषा का सृजन करते चलते हैं. 'आबार ऐशो' जैसी कहानी इस विशिष्ट भाषिक सृजन का ज्वलंत उदाहरण है. कहानी का प्रारंभ एक परिवेश के माध्यम से होता है. यह परिवेश उत्सव का है, कोलाहल का है... और पकड़ता है उस मानुषी गंध को, जो उत्सव मात्र में होती है. दुर्गाबाड़ी से संध्यावाती के दर्शन कर लौट रहा कथानायक जैसे इस सबसे अलग एक अकेलेपन को जी रहा है... पर एक आसरा बचा है, जो उसे एकदम अकेला नहीं हो जाने देता. उपन्यास के नायिका-चरित्र से माथापच्ची में उसका सारा दिन निकल जाता है और फिर एक मधुर स्मृति उभरकर आती है... कल्याणी के रूप में.

कहानी जिस तरह से आगे बढ़ती है, मुझे ब्रेख्त का वह कथन याद आ जाता है, जहां वह कहता है कि मानव-समाज की इकाई एक व्यक्ति नहीं, दो व्यक्ति मिलकर बनते हैं... कल्याणी और इस लेखक-पात्र का प्रेम अधकचरे किस्म का नहीं, काफी मेच्योर प्रेम है. यह प्रेम भी कल्याणी अपनी भाषा में जब-तब जाहिर करती रही है. कल्याणी को कहानीकार ने जिस सूक्ष्मता से समझा-परखा है, वह बांधने की पूरी सामर्थ्य रखता है. निश्छल-सी कल्याणी एक स्पष्ट पारदर्शिता लिये है... लगता है जैसे सब कुछ उसकी पहुंच में है और इसीलिए वह आश्वस्त रहती है. उपन्यास की नायिका से जूझते-जूझते अनायास कल्याणी तक आ पहुंचना मनुष्य की उस प्रवृत्ति को सामने रखता है, जो सदैव अप्राप्य के पीछे ही भागती रही है. कथा विस्तार के साथ-साथ कहानी में कविता की जो लय विद्यमान रहती है... यह रचना के प्रभाव को द्विगुणित कर देती है, विशेषकर तब, जब बाहर की अपेक्षा भीतर की यात्रा करनी हो.

कल्याणी के माध्यम से नारी-मन और प्रकृति को जैसे 'पेंट' कर देना चाहता हो कथाकार. स्त्री की यह सहजता, जो उसे कहीं भी, कुछ भी स्वीकार लेने की छूट देती है, या पुरुष के धैर्य और संयम को समझने वाली स्त्री की मानसिकता... रू-ब-रू होकर खड़े हो जाने वाली स्थिति हो या विनम्र जल-सी बिछल जाने वाली मनःस्थिति, एक-एक चीज पूरी प्रभावमयता के साथ उभरकर आती है. कल्याणी सामान्य स्त्री नहीं है. न ही सामान्य है कथा-नायक. दोनों अपनी-अपनी विचार-यात्रा में अपने-अपने 'सेल्फ' को पूरी तरह, उसकी कमजोरियों और अच्छाइयों के साथ समझते हैं. वे समझते हैं कि भाषा का छद्म क्या होता है और जीवन का सत्य क्या? "स्त्री तुम्हें और क्या दे कि तुम लोग उसे भी मनुष्य समझ सको?" जैसा कल्याणी का प्रश्न कथानायक से ही नहीं, समूचे पुरुष-समाज से है. यह एक ऐसा प्रश्न है, जो एक ओर जहां नारी के जीवन के समूचे 'दैन्य' को उभारकर रख देता है; वहीं पुरुष सत्तात्मक समाज की उन स्थितियों की ओर भी संकेत करता है, जहां स्त्री को केवल झुकना होता है. यह प्रश्न कथानायक को विचार लगता है, विचार—जो केवल चुनौती हो सकता है. चुनौती, जिसका जवाब पुरुष को विनम्रता से सोचना होगा.

देह और मन, दोनों से ही अप्राप्यता का मूल्य चुकाती कल्याणी यदि अपने आपको तुच्छ नहीं समझती, तो उसके इस शील को समझता हुआ कथानायक अपने में बहुत तुच्छ हो जाता है, जो प्रेम में लेना ही जानता है, बस. कल्याणी के दांपत्य-जीवन की 'कोल्डनेस' को लेकर भी उसका विचार यही है कि कल्याणी ने इतने लंबे समय तक आभास क्यों नहीं होने दिया? जबकि कल्याणी का मानना है कि स्थितियों का अनुमान करना पड़ता है... उसका निष्कर्ष है कि कोई जीवन भर पति-पत्नी हो बने रहें तो बिखर उठने के अलावा और कोई नियति नहीं है.

कहानी को दृष्टि से देखें तो यह कहानी पारंपरिक ढांचे को तोड़ते हुए एक नयी ही जमीन बनाती है, जहां कथा विचार-यात्रा के साथ विकास पाती है. स्त्री के सम्मुख पुरुष के छोटे होते चले जाने के एहसास को कहानी है 'आबार ऐशो'... जो पढ़े जाने के बाद देर तक संगीत-लहरी का-सा प्रभाव बनाये रखती है. ☐

क्या कम है. प्रायः तो अविकसित दशा में ही लौट जाती हैं."

"सच-सच बताओ, क्या बात है? क्या है, जो तुम्हें चुभ रहा है?"

कुछ क्षण को वह रुकी जैसे जल की गहनता जान ले, तब पैर बढ़ाये. बोली, "तुम किस अधिकार से यह पूछ रहे हो? स्त्री अधिकार के बिना जब शरीर तक स्पर्श नहीं करने देती, तब मन?.. मन को दिगंबर करना कितना खतरनाक होता है... सच, तुमसे बहुत डर लगता है."

"मुझसे, डर?... क्या इसीलिए अकेली आयी हो?"

"नहीं, आयी तो जाने के लिए हूं... हां, मेरी एक बात का जवाब दोगे? झूठ नहीं, एकदम सच. भाषा नहीं चाहिए, जवाब चाहिए."

"पता नहीं तुम क्या पूछना चाहती हो और पूछने के लिए तुमने एक कड़ी बात रख दी है कि भाषा नहीं चाहिए. पता नहीं तुम किसे भाषा समझो और किसे जवाब."

"अच्छा, समझौता कर लेते हैं कि तुम जवाब देने की पूरी चेष्टा करोगे और मैं उसमें से भाषा के छिलके निकाल फेंकूंगी. है न?"

"जैसा तुम ठीक समझो."

"स्त्री तुम्हें और क्या दे कि तुम लोग उसे भी मनुष्य समझ सको?"

क्या मैंने गीले हाथों से स्विच छुआ था? कल्याणी को मैंने विविध शृंगार में देखा है. जूड़े में वह खिल उठती है. चोटी में वह दक्षिणात्य अधिक लगती है. नाक में लौंग पहन लेने पर उसमें एक अजीब आकर्षण आ जाता है, परंतु इस समय यह जैसी है, लगभग निरलंकार ही, पर लगता है कि आंच बहुत तेज लग रही है. क्या मेरे पास बल्कि किसी के पास भी, इसका कोई उत्तर है? मुझे लगा कि यह प्रश्न नहीं विचार है. उत्तर, प्रश्न का होता है, विचार का नहीं. और वह भी ऐसा विचार, जो केवल चुनौती ही हो सकता है. यह अभिप्रेत है, मात्र अभिप्राय नहीं, किसी गुफा में पहुंच जाने पर सांस की भी प्रतिध्वनि आने लगती है, जैसे गुफा भी सांस ले रही है. अत्यंत निष्णात व्यक्ति ऐसा ही होता है. यहां तक पहुंचने में कल्याणी किस-किस वेदना, अनुभव से नहीं गुजरी होगी. प्राप्ति का अर्थ ही है—क्रमशः अकेले होते जाना.

इस स्थिति से सामान्यतः तो कतराना ही ठीक होता है, क्योंकि इससे अधिक दिगंबरत्व और क्या हो सकता है? चाहे हम हिम के रास्ते से जायें या अग्नि के हाहाकार से, बचना नहीं हो सकता. और जब ऐसा हाहाकार अहोरात्र वहन करना पड़े, तब गोत्र, संबंध, भावनाओं का क्या अर्थ है? इसीलिए वैराग्य, शिखा-सूत्र की पहचान को भी उतार फेंकता है. कल्याणी यदि आपको तुच्छ नहीं समझती है तो यह उसका शील है, लेकिन अप्राप्यता के जिस स्थान को उसने प्राप्त कर रखा है, उसके लिए मन और देह, दोनों का उसने मूल्य चुकाया है.

उसे अब मेरे न तो प्रेम, न सम्मान, न उत्तर किसी की भी आवश्यकता नहीं रह गयी है. स्त्री आपको यदि धारण करने आ जायेगी तो

CC-0. In Public Domain.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकार बना लेगी, नहीं तो टूटे बाल-सा उंगलियों में लपेट फेंक देने में भी उसे कोई संकोच नहीं होगा. दूसरे दिन जाना उसने केवल शाम तक ही स्थगित किया. सच तो यह है कि मैं कहता तो एकाध दिन को ही सही, रुक सकती थी, परंतु ऐसे कहने का अर्थ कल्याणी के संदर्भ में क्या अर्थ रखता? कुंभ-नगर वाले वीरान पड़े मैदान से गुजरते हुए वह कितने सहज ढंग से बता गयी कि उसके इस नौकरी वाले निर्णय को भी उसके पति ने अखबार के एक समाचार जैसा ही लिया. संबंध साथ का नहीं होता, मन का होता है. अधिकांश तो जीवन भर केवल साथ रहते हैं.

शाम को हम लोग विसर्जनोत्सव देखने गये. सरस्वती घाट पर रंगीन तथा मूल्यवान कपड़ों की अच्छी-खासी भीड़ थी. कल्याणी जिस भाव से यमुना कगार से नीचे नौका तक ले जाती प्रतिमाओं को देख रही थी, उसे अन्यमनस्कता नहीं कहा जा सकता था, एक प्रकार से वह असंगत ही थी. नौकाओं में विभिन्न प्रतिमाओं का ले जाया जाना, फिर यमुना की मध्यधारा में तिरोहित होना तथा किनारे पर 'मां! आबार ऐशो!!' (मां, फिर आना) की आर्तता—सबको वह सूर्यास्त की भांति ही देखती स्वयं प्रतिमा लग रही थी—देवी की न सही तो मानुषी प्रतिमा तो वह थी ही.

कहीं किसी प्रकार की कोई प्रतिक्रिया नहीं थी. रह-रहकर रात की एक बात उसकी याद आ रही थी. जब मैंने उससे पूछा था कि तुम्हारा दांपत्य-जीवन वर्षों से इतना 'कोल्ड' था तो इसका आभास तुमने कभी क्यों नहीं होने दिया? तो वह कैसा कराहने के जैसा हंस पड़ी थी. उसके जवाब से अधिक सटीक इस बारे में कुछ हो भी नहीं सकता था कि सब जानते हैं कि पति-पत्नी के बीच शरीर-संबंध ही आधारभूत होता है, पर उसका आभास कोई किसी को देता है? अनुमान करना पड़ता है. यह संसार अनुमान ही तो है.

उसका निष्कर्ष था कि कोई यदि जीवन भर पति-पत्नी ही बने रहें तो बिखर उठने के अलावा कोई दूसरी नियति नहीं है. प्रत्येक टंगे शीशे को धरती का गुरुत्वाकर्षण एक न एक दिन अपनी ओर खींच ही लेता है और उस दिन शीशा झनझनाकर बिखर उठता है.

ट्रेन के कंपार्टमेंट में वह बड़ी सुखद एक विशद लग रही थी. उसके पूरे व्यक्तित्व में कहीं कोई विकल्प नहीं था. मैंने उसे एक बार फिर आर-पार देख जाने की कोशिश में पूछा, "कल्याणी, मैं भी एक बात पूछना चाह रहा हूं."

चौंकने का हल्का-सा आभास अवश्य दिया, परंतु संतुलित होते हुए, लगभग रस लेते हुए कहा, "पूछो, परंतु जवाब नहीं दूंगी, भाषा बोलूंगी. स्वीकार है?" और वह खिलखिला पड़ी.

"तुमने किसी दिन अपने पति को कुछ बताने की गलती की है क्या?" उसने मेरी आंखों में झांकने की चेष्टा की कि आखिर इस पूछने के पीछे मेरी असली मंशा क्या है? वह स्त्रियोचित ढंग पर ही आश्वस्त होते हुए बोली, "मैंने कहा था न कि जवाब नहीं, भाषा. तो, तुम समझ लो कि स्त्री कभी कहती नहीं है, बल्कि कहने का आभास देती है. पुरुष इस आभास की आंच को ही सहन नहीं कर पाता, तब भला स्त्री किससे कहे और क्या कहे? लेकिन. . ." कहते-कहते वह एक क्षण को कहीं खो गयी.

"लेकिन, क्या?"

लगभग निश्वास लेते हुए वह बोली, "स्त्री कहने की भाषा का संकट क्यों मोल ले? पहले ही उसके पास अपने क्या कम संकट हैं?—हां सुनो, मेरे कान में वह आर्तता जाने क्यों दुहरा-तिहरा रही है, 'आबार-ऐशो!' क्या. . ."

और वह जैसे अपने को छिपाने की चेष्टा करते हुए अपने पर्स से लौंग निकालकर भ्रम उत्पन्न करने लगी.

"मैं समझा नहीं."

दांतों में दबा लौंग होने पर भी मुझे लगभग तराशते हुए बोली, "और समझदारी किसे कहते हैं?"

उसके इस वाक्य में ही नहीं बल्कि संपूर्ण व्यक्तित्व में अनुभव संपन्नता लिखी हुई थी. वह सच ही जैसे मेरी रेखा छोटी न करके अपनी बड़ी रेखा खींच ले गयी. लगा कि गाड़ी हठात् ही चल पड़ी.

वस्तुतः ऐसा हुआ नहीं होगा. बातों में न सीटी सुनाई दी और न हरी झंडी दिखी. उसकी खींची हुई बड़ी रेखा ट्रेन के साथ दूर तक खिंचती ही चली गयी.

रास्ते भर सोचता रहा कि यह भी तो मानुषी-प्रतिमा का विसर्जन ही था. तब जिस वाक्य की उसे प्रतीक्षा रही होगी, वह मैं क्यों नहीं कह पाया. चाहता तो शायद मैं भी रहा होऊंगा, तो कहा क्यों नहीं? □

● 99 ए लूकर गंज, इलाहाबाद (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचंद की विरासत और कहानी का सिलसिला

प्रेमचंद ने हिंदी-कहानी को जो विरासत अगली पीढ़ी को सौंपी. . .वह इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि आज भी हम संवेदनात्मक स्तर पर कहीं गहरे में प्रेमचंद से जुड़े हैं. प्रेमचंद ने जिस समय लेखन प्रारंभ किया था, वह उनके लेखन का ही नहीं भारतीय राजनीतिक चेतना के भी विकास का प्रारंभिक दौर था. प्रेमचंद ने एक संघर्ष जिया, अपने संस्कारों से भी और सामाजिक स्थितियों से भी. प्रेमचंद का रचनाकार जिस विकास-प्रक्रिया से होकर गुजरा, वह धीरे-धीरे एक विरासत बन गयी हिंदी कहानी की. . .एक परंपरा. प्रेमचंद के बाद की कहानी में तुलनात्मक दृष्टि से स्थायी निधि के तौर पर जो रचनाएं आयी हैं, वे प्रेमचंद की परंपरा को ही आगे बढ़ाती हैं.

प्रेमचंद की इस विरासत को लेकर कहानीकारों की अगली पीढ़ी ने कहानी को कहां तक पहुंचाया. . .? यह जानने-समझने की गर्ज से कुछ आलोचकों और रचनाकारों के विचार प्रस्तुत हैं. इनमें डा. माहेश्वर जहां सातवें दशक के महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं, वहीं डा. सुरेश धींगड़ा 'प्रेमचंद की आर्थिक भूमिका' जैसी विचारशील पुस्तक के लेखक. मृणाल पांडे आज की चर्चित महिला कथाकार हैं तो चंचल चौहान ख्यात जनवादी कवि और आलोचक. प्रेम जनमेजय 'प्रेमचंद की कहानियों में सामाजिक परिवेश' विषय पर शोध कर चुके हैं और चर्चित व्यंग्यकार हैं तो धीरेंद्र अस्थाना आठवें दशक की कहानी के एक चर्चित हस्ताक्षर. . . आइए, देखें कि यह परिचर्चा हमें प्रेमचंद के बाद की कहानी को समझने-समझाने में कितनी सहायक हो सकी है. . .!

प्रेमचंद की परंपरा का उत्तरोत्तर विकास

■ डा. माहेश्वर

प्रेमचंद ने हिंदी कहानी को एक समर्थ भाषा और वैज्ञानिक ढांचा दिया. उनकी आरंभिक कहानियां का ढांचा आदर्शवादी था. सामंती मूल्यों की स्थापना भी थी कहीं-कहीं. पर उन्होंने अपने को तेजी से बदला. समाज के आधारभूत वर्गों पर दृष्टि स्थिर रहने के कारण और साम्राज्यवाद विरोधी रुख के कारण वे महाजनी सभ्यता और विनाश की प्रक्रिया को आत्मसात कर सके. और उनकी रचनाएं गहरी अर्थवत्ता से पूर्ण होकर पूंजीवादी शोषण तथा अत्याचार के खिलाफ सिर उठाने लगीं. देश की गरीब मेहनतकश जनता के साथ गहरी संलग्नता और उसके प्रति निष्कपट सहानुभूति के कारण उनकी दृष्टि लगातार सामाजिक विसंगतियों पर जमती, उन्हें उभाड़ती गयी. उन्होंने कथ्य और शिल्प दोनों ही धरातलों पर तीव्र प्रगति की और विश्व के महानतम कथाकारों की श्रेणी में जा पहुंचे.

प्रेमचंद आज भी इसीलिए प्रासंगिक हैं. पर यह कहना कि हिंदी कहानी या कथा-साहित्य आज भी प्रेमचंद से आगे नहीं बढ़े हैं, मेरे विचार से गलत है. यह कहना वैसा ही है, जैसा यह मानना कि भारतीय इतिहास गांधी के बाद आगे नहीं बढ़ा और एक जगह स्थिर हो गया. साहित्य या इतिहास की प्रगति को साहित्यिक या ऐतिहासिक व्यक्तियों की उपलब्धियों की महानता से नहीं जांचा जाना चाहिए.

प्रेमचंद के बाद उनके परवर्ती कथाकारों ने उनकी उपलब्धियों का लाभ उठाते हुए उनकी परंपरा को आगे बढ़ाया और आज तक हिंदी कथा-साहित्य की मुख्य धारा प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा का ही प्रक्षेपण है. जैनेंद्र, यशपाल, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, पं. सुदर्शन, कौशिक, रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी', चतुरसेन शास्त्री, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, भैरवप्रसाद गुप्त, फणीश्वरनाथ रेणु आदि प्रेमचंद के ही दिखाये रास्ते पर आगे बढ़े, पर इनमें से कुछ अपनी आंतरिक कमजोरियों और दृष्टि की सीमा के कारण साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीवाद-सामंतवाद गठजोड़ के सामने घुटने टेक कर अपने रचनात्मक अवसान की तरफ मुड़ गये. ये बाकायदा साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के प्रवक्ता बन बैठे और उनकी रचनात्मक ऊर्जा समाप्त हो गयी. इसके विपरीत यशपाल, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, (हालांकि इन्होंने बहुत कम कहानियां लिखीं, उपन्यास ज्यादा लिखे) भैरवप्रसाद गुप्त और रेणु लगातार पैनी नजर वाली कालजयी रचनाएं देते गये. उसका मुख्य कारण था. देश के बहुसंख्यक किसान-मजदूर वर्ग के प्रति इनकी सहानुभूति और पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के प्रति इनकी आंतरिक घृणा, जिससे इनकी रचनाओं में प्रखर वर्ग-दृष्टि, मार्मिकता और प्रेमचंद की विरासत का उत्तरोत्तर विकास दीख पड़ता है.

बायें से :—डा. माहेश्वर, मृणाल पांडे, प्रेम जनमेजय

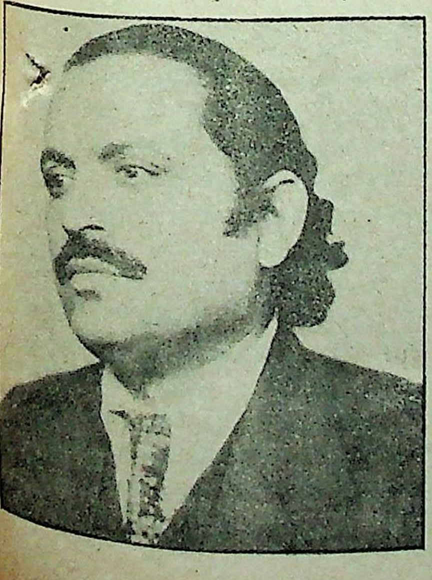

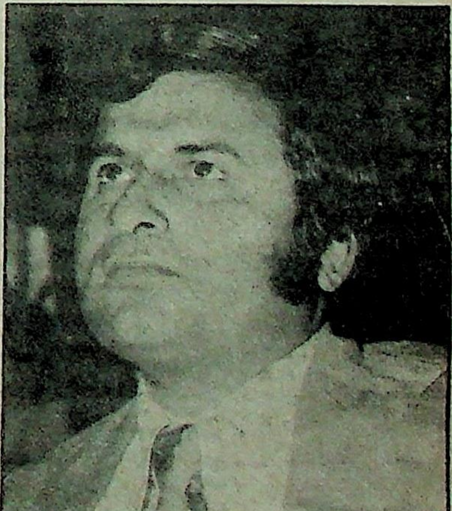

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नये लेखकों को पुरानों की गलतियों से सबक लेना चाहिए

▣ मृणाल पांडे

हमारी सदी में हिंदी कथा साहित्य का विकास एक तरह से एक द्विमुखी विकास है, जिसमें एक धारा का प्रतिनिधित्व प्रेमचंद करते हैं, और दूसरी का जयशंकर प्रसाद. पहली धारा की जान किस्सागोई का वह तत्व है, जो पारंपरिक भारतीय कहानी कला से जुड़ा हुआ है. इन कहानियों में कथानक के घटनाक्रम पर उसके समकालीन चिंतन और इतिहास की स्पष्ट परछाईं होती है. और उनके कथानक के विकास का क्रम सहज, रैखिक और आदि-मध्य-अंत से युक्त रहता है.

दूसरी धारा, जिसे मोटे तौर से काव्यमय अंतर्दृष्टि की धारा कहा जा सकता है, की कहानियां इतिहास के साथ-साथ कदमताल करने की बजाय कविता की तरह अमूर्त शब्दों, बिंबों द्वारा, मानव नियति और काल के रहस्यमय भीतरी संबंधों को जांचती हैं, और एक आड़ी तिरछी गति में लगभग एक ही बिंदु के चारों ओर घूमती दिखायी पड़ती हैं. ऊपरी तौर से इन कहानियों को जांचनेवाले अक्सर इन पर आक्षेप लगा सकते हैं कि इन कहानियों का फलक छोटा है, इनमें सामाजिक चेतना या प्रतिबद्धता नहीं है, पर यह सच नहीं है.

लेकिन इस पर फिर कभी.

प्रेमचंद की सीधी विरासत की जो कथा-धारा है, उसकी सीधी रैखिक गति और इतिवृत्तात्मकता के गुण तो स्पष्ट हैं, पर उसके कुछ अपने खतरे भी हैं. पहला खतरा तो इस बात का है कि अपने कमजोर क्षणों में सामाजिक आदर्शवाद से निकली एक तरह की भावुकता या अखबारी खबरों की चुस्त फिकरेबाजी उसके कलेवर पर हावी होने लगती है. गो ऐसे सुधी आलोचकों की कमी नहीं, जो इस भावुकता या खबर प्रधानता को प्रतिबद्धता और संवेदनशीलता का पर्याय मानते हैं, लेकिन इसमें शक नहीं, कि पिछले कुछ सालों में इस बात ने अच्छी हिंदी कहानी का बहुत कबाड़ा किया है. एक दूसरा खतरा यह भी है, कि इस तरह के लेखन में कई बार सरलता की जगह एक तरह का मसीहाई मुद्रा-वाला सामान्यीकरण आता है. इससे दोहराव और एकरसता की भरमार होने लगती है. कोई भी संवेदनशील रचनाकार इस बात को खूब अच्छी तरह समझता है कि जीवन में या कला में, 'सरल' सचमुच कितना 'कठिन' है—पर मंझोली रचनात्मकता वाला अपरिपक्व रचनाकार अक्सर उत्कृष्ट साहित्य की सरलता को आसान समझकर, बेतहाशा पिल पड़ता है. हर चीज को अपनी तरह से 'समझाने वाली, हर घटना का 'संपूर्ण' और 'अंतिम खुलासा' करने का दावा करनेवाली यह रचनाएं, प्रेमचंद की सही विरासत पर सबसे बड़ा खतरा हैं, और नये लेखकों के लिए पुरानों की गलतियों से सबक लेते हुए इनसे सीधे निबटना बहुत जरूरी हो गया है.

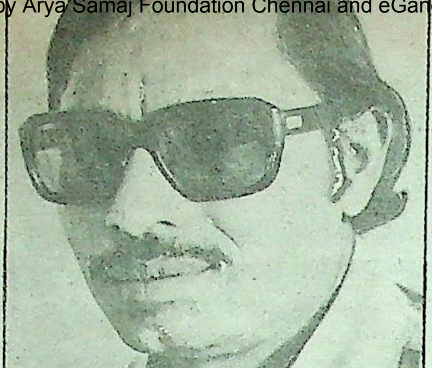

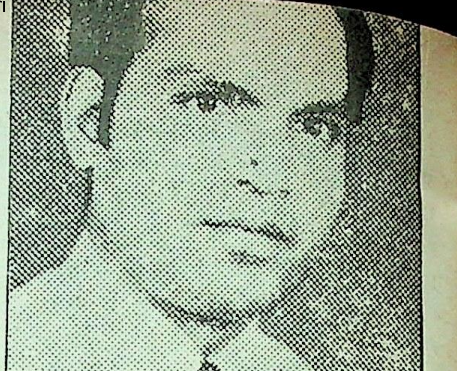

बायें से :– सुरेश धींगड़ा, चंचल चौहान

प्रेमचंद की विरासत तो आज भी जारी है !

▣ प्रेम जनमेजय

प्रेमचंद के बाद हिंदी कहानी की पहली पीढ़ी के समक्ष एक जबरदस्त चुनौती थी— अपने लेखकीय अस्तित्व की रक्षा. जब कोई सूर्य साहित्याकाश में उदित होता है तो आनेवाली पीढ़ी या तो उसके अनुकरण में धूमिल होने लगती हैं अथवा उसके विराट व्यक्तित्व के नीचे दब जाती हैं. परंतु हिंदी कथा-साहित्य के साथ ऐसी दुर्घटना घटित नहीं हुई. प्रेमचंद के बाद एक सशक्त कथा-पीढ़ी ने जन्म लिया. प्रेमचंद के कथा-व्यक्तित्व ने अगली पीढ़ी को प्रेरित किया, आतंकित नहीं.

प्रेमचंद की विरासत का विवेचन विश्लेषण 'दो शब्द' में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता परंतु यह तय है कि प्रेमचंद ने अपने साहित्य के माध्यम से जो कथा-दृष्टि दी उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि न तो आयातित थी और न ही मशीनी, अपितु वह नितांत भारतीय जनमानस की समस्याओं की सहज उपज थी. परंतु प्रेमचंद के बाद आयातित विचारों से आक्रांत कथा-साहित्य का भी जन्म हुआ. कुछ कथाकार दार्शनिक की 'गहरी' मुद्रा ग्रहण करके फ्रायड और मार्क्स की कार्बन-प्रतियां साहित्य के लिए तैयार करने में व्यस्त हो गये. यहां तक कि प्रेमचंद के निकटतम भी—'यह जो है और जो नहीं है, वह कैसे यह हो सकता है,' की भूल-भुलैया में आज भी खोये हुए हैं.

प्रेमचंद की विरासत आज भी जारी है, वह इसलिए कि उनके बाद की कथा-पीढ़ी के कुछ सजग चिंतनशील यथार्थवादी साहित्यकारों ने उसे धूमिल नहीं होने दिया. उन्होंने प्रेमचंद का अनुकरण नहीं किया अपितु उनकी सोच में मौलिक योगदान देकर उसे आगे बढ़ाया. उन्होंने भारतीय समाज की विसंगतियों का यहां के जन मानस की जमीन पर खड़े होकर देखा परखा, न कि फार्मूलाबद्ध सोच की धुंध में.

बाद की पीढ़ी ने फलक को विस्तृत बनाया है

▣ सुरेश धींगड़ा

शायद यह कहना गलत होगा कि किसी भी दिशा-निर्देशक कहानीकार की विरासत को ठीक इन्हीं रूपाकृतियों में ग्रहण किया जाये, जो उसकी कहानियों में मिलती है. प्रेमचंद में व्यक्त रूपाकृतियों के साथ-साथ वस्तुवृत्तों में भी कालांतर में गुणात्मक परिवर्तन हुआ है. भारतीय समाज में क्षितिज-रेखांक समूहों से निर्मित वर्ग-समूहों ने अवसर पाकर अनुलंब-रेखांक समूहों का रूप भी धारण कर लिया है. इसलिए जाहिर कि प्रेमचंद के बाद की पीढ़ी के कहानीकारों के सामने दोहरी चुनौती थी. पहली, प्रेमचंद द्वारा स्थापित 'स्तर' पर खरा उतरने की और दूसरी, परिवर्तन को अपनी कथाओं में रेखांकित करने की. अर्थतंत्र का उदाहरण लें, तो प्रेमचंद के समय की विदेशी सत्ता के दौरान 'महाजनी सभ्यता' और जन-साधारण के बीच जो एक-सूत्रता मौजूद थी—संभवतः विकास की दिशाओं की समान तलाश के कारण उसका शीराजा आजादी के साथ-साथ बिखर गया, क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता की पहली स्वाभाविक परिणति आर्थिक स्वतंत्रता हो सकती थी और दूसरी सामाजिक. इसकी आवाज उठी भी. लेकिन वह सिर्फ आवाज बनी रही. इसके पीछे 'पूंजीहित' के कारणों की खोज मुश्किल नहीं है. प्रेमचंद के बाद के कहानीकारों ने इन प्रभावों को अपनी कथाओं के वस्तुवृत्तों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में ग्रहण किया है. आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता प्रेमचंद के निकट भी ज्यादा महत्वपूर्ण थी, लेकिन इनकी प्राप्ति का रास्ता राजनीति स्वतंत्रता से होकर ही था, इसे भी प्रेमचंद ने रेखांकित कर दिया था. बाद के कहानीकारों को अब उस मार्ग पर बढ़ना था. पर प्रेमचंद ने जिस संवेदना और विचार-धाराओं को अभिव्यक्त किया था, उनका रूप अवश्य परिवर्तित हो गया था. बाद की पीढ़ी ने इसे वैषम्य और अंतर्विरोध के सामाजिक सूत्रों के रूप में ग्रहण करके उसके फलक को विस्तृत बनाया है.

यथार्थवादी कहानी नित नये रूप परिधान में सामने आ रही है !

□ चंचल चौहान

प्रेमचंद की विरासत हमारे तईं आजादी की लड़ाई के दौर में भारतीय समाज को प्राप्त नये मूल्यों की विरासत है. कहानी और उपन्यास का मौजूदा रूप हर साहित्य में समाज की एक खास विकास मंजिल पर वजूद में आता है, सो हमारे यहां भी यथार्थवाद और इन विधाओं का जन्म साथ-साथ हुआ. अंग्रेजी राज से मुक्ति पूरे समाज की आकांक्षा थी, अतः प्रेमचंद जैसे महान कलाकार में यह आकांक्षा अपना यथार्थवादी रूप लेकर सामने आयी. यही उनकी विरासत है.

यह विरासत यानी यथार्थवादी रचनाशीलता और समाज की बेहतरी के लिए यथार्थवादी नजरिये से कला-रचना उस दौर में क्षीण हो गयी जब लड़ाई की आंच या तो मद्धिम पड़ गयी या बुझ गयी. नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त आदि कथाकार यथार्थवादी नजरिये के कारण माहौल के शिकार नहीं हुए और वे प्रेमचंद की विरासत को आगे बढ़ाते रहे. मगर जैनेंद्र के लिए समाज का यथार्थ महत्वपूर्ण नहीं रह गया. उन्हें लगने लगा कि 'घटना जो जगत में घटती है वही समय से बंधी होती और पुरानी पड़ा करती है.' यथार्थ के प्रति जैनेंद्र की पीढ़ी का यह रवैया जिसे वे 'सनातनता' के चक्कर में अपना बैठे थे, प्रेमचंद की विरासत को झुठलाने की ओर उन्हें लिए जा रहा था. आज उनका यह दावा कितना झूठा साबित हो गया है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं है.

संघर्ष की आंच मद्धिम पड़ने पर यथार्थवादी धारा को यानी प्रेमचंद की विरासत को धक्का लगना स्वाभाविक था. इसके शिकार जैनेंद्र, अज्ञेय तो थे ही, यशपाल जैसे प्रगतिवादी भी थे. 'दिव्या' अपनी पूरी कलाकारी के बावजूद जैनेंद्र की तरह विचार का ही गुब्बारे की तरह फुलाया हुआ रूप है. समाज की चिंता जब नेहरूजी के लिए छोड़ दी गयी तो मध्यवर्गीय कथाकार ने अपने अहं को ही मकड़ी के जाले की तरह बुनना शुरू किया. अज्ञेय की कथायात्रा इसकी मिसाल है. ओढ़ा हुआ आत्मनिर्वासन जितना कृत्रिम अज्ञेय के कथा-कर्म में आता गया, वह प्रेमचंद की विरासत को अनदेखा ही करता गया. शुभ लक्षण यह रहा कि अहं के विस्फारित रूप को कथा-साहित्य में विकृत यथार्थ या अयथार्थ की तरह पेश करने की यह प्रक्रिया बहुत दिन तक नहीं चल सकी. मध्यवर्ग के रचनाकारों ने जैसे ही टूटने का एहसास किया, वक्त की मार को महसूस किया, वैसे ही एक नयी पीढ़ी हिंदी कथा-साहित्य में नयी कहानी लेकर उभरी. हालांकि उन पर अज्ञेयवाद का भी काफी प्रभाव था, मगर सामाजिक यथार्थ के भी विश्वसनीय चित्र सामने आने लगे थे.

सत्तरोत्तरी दौर के संघर्षों ने एक बार फिर प्रेमचंद की विरासत को पहचाना है, और शोषित जन की व्यथा-कथा कहती हुई हमारी यथार्थवादी कहानी नित नये रूप परिधान में सामने आ रही है.

'प्रेमचंद: एक विचार' होना चाहिए न कि 'प्रेमचंद: एक परिवेश'

□ धीरेंद्र अस्थाना

धीरेंद्र अस्थाना

यह खुशी की बात है कि प्रेमचंद अब एक बड़े लेखक का नाम भर नहीं बल्कि हिंदी कहानी की स्वरूप और यथार्थवादी दृष्टि और प्रवृत्ति के प्रतीक के तौर पर स्वीकृत हैं. विचारधारा के स्तर पर गांधीवाद से चलकर 'बोल्शेविक उसूलों' पर जा पहुंचने का उनका संघर्ष और निर्णय हिंदी कहानी का संघर्ष और निर्णय स्थल है. संभवतः इसीलिए उनके साथ या तुरंत बाद आनेवाले लेखकों को पहली कथा-पीढ़ी के रूप में मान्यता भी मिली. जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, उपेंद्रनाथ अश्क, यशपाल, फणीश्वरनाथरेणु, भैरवप्रसाद गुप्त, रांगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, मार्कंडेय और द्विजेंद्र नाथ मिश्र निर्गुण आदि अनेक लेखक इस पहली कथा-पीढ़ी के प्रतिनिधि नाम हैं.

अब प्रश्न यह है कि इनमें वे लेखक कौन हैं जिन्होंने प्रेमचंद की विरासत प्राप्त की और उनकी परंपरा को आगे बढ़ाया. लेकिन उससे भी पहले मेरे तईं यह प्रश्न बड़ा है कि प्रेमचंद की परंपरा है क्या ? मैं आज तक इस हजारों बार दोहराये तर्क से सहमत नहीं हो सका हूं. कि प्रेमचंद की परंपरा में या उनके उत्तराधिकारियों में सिर्फ और सिर्फ भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कंडेय और रेणु ही आते हैं; बाकी कोई नहीं. यह दृष्टि एक नये किस्म के संप्रदायवाद से जन्मी है. प्रेमचंद का परिवेश जरूर ग्रामीण था लेकिन उनका महत्व उनके द्वारा ग्रामीण यथार्थ को व्यक्त करने तक सीमित नहीं है. उनका महत्व है उस वर्गीय और वैज्ञानिक दृष्टिकोण में जो अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में 'कफन' और 'गोदान' में आकार लेता है. इन रचनाओं में हवाई आदर्शवाद, गांधीवादी मानवीयता और भावुक सहानुभूति हिंदी कहानी से विदा लेते हैं. और उसकी जगह स्थापित होते हैं चीजों और संबंधों को देखने और जांचने का वर्गीय दृष्टिकोण, तर्कसम्मत वैज्ञानिक चिंतन और निर्मम तथा बारीक भाषा. इन रचनाओं तक आते-आते मनुष्य के प्रति प्रेमचंद के सरोकार सघन और स्पष्ट होते हैं, रवैया यथार्थवादी होता है और चिंतन 'लगभग मार्क्सवादी', यहां मैं राजेंद्र यादव की एक बात याद करता हूं कि "ग्रामीण क्षेत्र प्रेमचंद के अपने अनुभव-संसार का हिस्सा है. वे वहां अधिक आश्वस्त और सहज महसूस करते हैं. इसलिए अपने कथानक, पात्र और स्थितियां वे वहीं से चुनते हैं. अगर उनकी पकड़ शहरी परिवेश पर भी उतनी ही सही होती तो कोई वजह नहीं है कि उनकी संवेदना और दृष्टि वहां भी उतनी ही गहराई से न जाती."

इसीलिए मुझे लगता है कि प्रेमचंद की विरासत का मसला हल करने के लिए हमारे पास एकमात्र मापदंड 'प्रेमचंद एक विचार' होना चाहिए न कि 'प्रेमचंद एक परिवेश'. और जब प्रेमचंद का विचार, संवेदना, सरोकार, दृष्टि और रवैये के लिए याद किया जायेगा तो उनके उत्तराधिकारियों में यशपाल का नाम क्यों नहीं आयेगा ? क्या सिर्फ इसलिए कि यशपाल का अनुभव संसार नगर केंद्रित है. अमृतलाल नागर, उपेंद्रनाथ अश्क और रांगेय राघव को क्या इसी बिनाह पर खारिज कर दिया जायेगा कि उनके यहां 'मार्क्सवाद' और 'ग्रामीण बोध' गायब है ? ऐसा नहीं है. हिंदी कहानी का एक सचेत पाठक होने के नाते मैं पूरी विनम्रता से कहना चाहता हूं कि प्रेमचंद न तो ग्रामीण लेखक भर थे और न ही जड़ किस्म के मार्क्सवादी. मार्क्सवाद ने प्रेमचंद को दृष्टि दी थी, उनकी दृष्टि को अंधा नहीं कर दिया था. प्रेमचंद की परंपरा का मूल्यांकन इतने एकांगी और संकीर्ण नजरिये से नहीं किया जा सकता. महत्वपूर्ण और बड़े लेखकों का श्रेष्ठतम हम खो देंगे. □

CC-0. In Public Domain. Guru

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधमरा कलकत्ता

प्रभाकर माचवे

मैं साढ़े छह साल कलकत्ता रहकर छोड़ने से पहले बैंक में अपना थोड़ा-सा पैसा जो जमा था, वह निकलवाने, हिसाब बंद करवाने गया. बंगाली बाबू ने पूछ ही तो लिया, "कलकत्ता मरता हुआ शहर है, इसके बारे में आपका क्या खयाल है?"

मैं चार बंगालियों के बीच, ऐसे समय, ऐसे सवाल के लिए कतई तैयार नहीं था. मैंने सोचा कि ऐसे वक्त सवाल का 'हां' या 'ना' में सीधा जवाब न देकर कुछ 'स्याद्वादी' बना जाये. और जैसा मैं करता हूं, एक चुटकुला सुनाकर उनसे छुट्टी पाने लगा, "आपने परसों अखबार में वह डेढ़ पंक्ति की किसी पाठक की प्रतिक्रिया नहीं पढ़ी, वही मेरा उत्तर है—शहर मर रहा हो, या उसमें धुकधुकी शेष हो, यहां के टेलीफोन जरूर 'डेड' (मरे हुए) हैं."

सब हंसे. मैं भी अपना काम निपटाकर चलने लगा. पर 'यंग बंगाली' कहां माननेवाला था! 'रवि ठाकुर की कविता में चंद्रमा' पर तीन साल पहले दुर्गापूजा की स्मारिका में मुझसे वह लेख ले गया था. वह पीछे ही पड़ गया, "आपको नहीं लगता कि हम बंगाली भारत के सबसे अधिक 'कल्चर्ड' (सुसंस्कृत) लोग हैं?"

वह मुझसे प्रमाणपत्र चाहता था. शायद उसे शंका थी कि लोग अब उतना संस्कृति-प्रेमी हम 'भद्रलोक' के मध्यवित्त व्यक्ति को नहीं मानते हों! पर (स्व.) मोहनसिंह सेंगर कहा करते थे, "खगेन बाबू

'कलकत्ता मर रहा है!' . . 'कलकत्ता एक मृत शहर है!'—आदि जुमलों के साथ आजकल अखबारों एवं पत्र-पत्रिकाओं में बड़ी चर्चाएं हो रही हैं. पर सवाल यह है कि कोई शहर आखिर कब आकर मरने लगता है?—राजनीतिक संदर्भों से बिल्कुल अलग विशुद्ध मानवीय और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को उजागर करती हुई यह कहानी, उपरोक्त प्रकार की बहुत-सी भ्रामक अवधारणाओं का जवाब एक साथ दे देती है. एक अरसा कलकत्ता में रहकर वहां की मिट्टी से साक्षात्कार करने के बाद माचवेजी हाल ही में वहां लौटकर आये हैं. . . .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

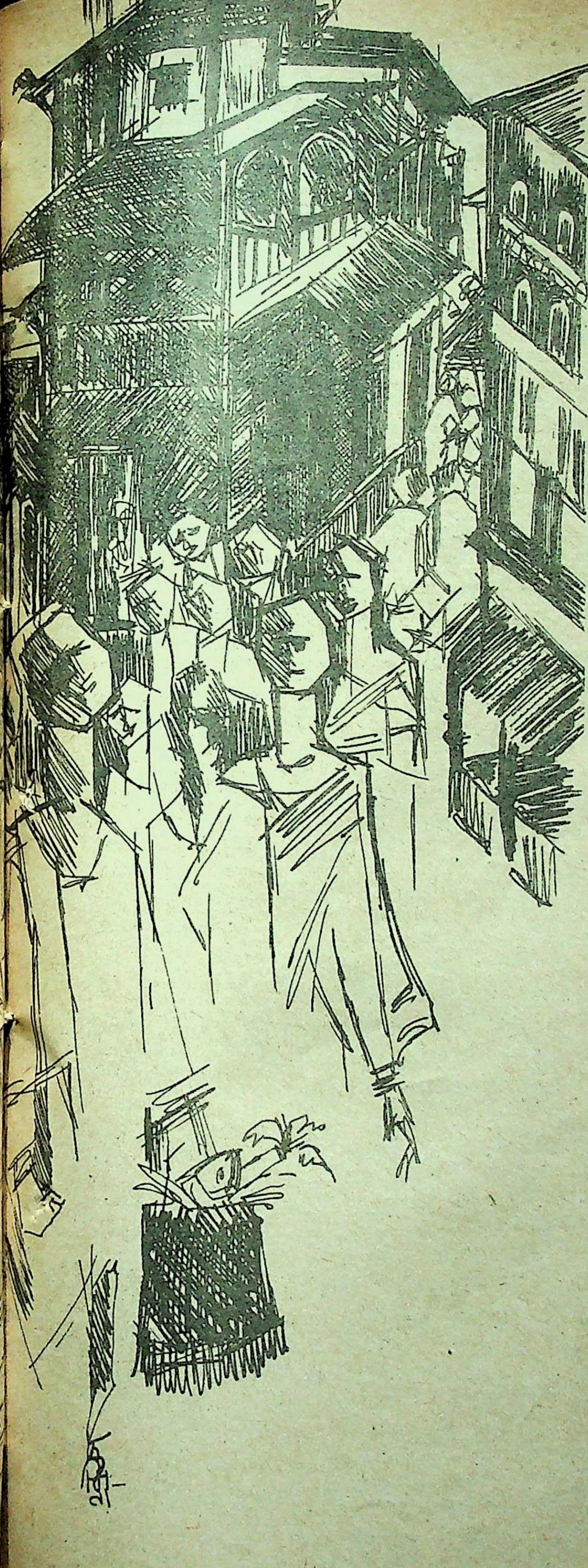

(एक टिपिकल बंगाली नाम) तो सर्वत्र है!" तो खगेन बाबू के इस आधुनिक युवकातार से मैंने कहा, "यह हम पर निर्भर करता है कि कल्चर की हमारी परिभाषा क्या है? हमारे हिंदी जगत में तुलसी रामायण मुखस्थ होना, यह सुसंस्कृत होने का एक लक्षण है. आपके यहां रवींद्र-संगीत आना शायद काफी है. उस दृष्टि से आप अपने-आपको अभिनंदित कर सकते हैं."

फिर मैं सोचने लगा. घर तक आते-आते मेरे सामने कलकत्ता के कई दृश्य उभर आये—भयानक, अच्छे, खराब, अत्यंत उदात्त, अत्यंत घृणित और मैं इस 'मरता क्या न करता' वाली गुत्थी में उलझ गया. कूड़े के ढेर से अन्न बटोरने, जूठे दोने चाटनेवाले भिखारी, और सवा लाख फुटपाथ पर ही जन्म लेकर, बच्चे जनकर मर जानेवाले लोगों के साथ-साथ 'सातूखोर' (सत्तू खानेवाले) बिहारी रिक्शेवाले याद आये, जिनके लिए 'निराला' ने लिखा था—'आदमी जहां बैल घोड़ा है.' इसी 'सु'-संस्कृत (?) नगर में साठ हजार से ऊपर आदमी को ढोनेवाले ऐसे आदमी खींचनेवाले रिक्शे हैं, जिनके बारे में अशोक चक्रधर की छोटी कविता प्रसिद्ध है—

रिक्शेवाले के पैर में पट्टी बंधी थी,
मैंने पूछा तू रिक्शा कैसे चलायेगा?
वह बोला, "बाबूजी, रिक्शा पैर से नहीं पेट से चलता है".

परसों एक साहब बता गये कि इसी कलकत्ता में सिर्फ मारवाड़ियों में ही साढ़े पांच हजार करोड़पति हैं. पैसा यहां सड़ रहा है. हरीश भादानी संपादित 'सोहनलाल दूगड़ अभिनंदन ग्रंथ' देखिए—उसमें एक प्रसंग है. दूगड़ बड़ा सट्टा खेलनेवाले, परमदानवीर लखपति थे. वे रो रहे हैं. जैनेंद्र कुमार या आचार्य रजनीश (दोनों के संस्मरणों में यही कथा है) की जेबों में—शायद रजनीश की जेब नहीं है, शाल में—सौ-सौ के कई गड्डी नोट ठूंस रहे हैं, कह रहे हैं—'दयालु, मैं जानता हूं पैसा मैल है. मैं न सेवा जानता हूं, न परोपकार, न पुण्य. मैं तो जहां यह जमा हुआ, दे डालता हूं. यह ले लीजिए, मेरा भार कम कीजिए.' वह फूटफूटकर रो रहे हैं, जैसे कोई रोगी कह रहा हो—'मेरी चरबी घटा दीजिए नहीं तो मैं दिल का मरीज हो जाऊंगा'.

सौभाग्य या दुर्भाग्य, मैं कलकत्ता में सभी भाषा-समूहों, जातियों प्रजातियों के ऊंचे से ऊंचे (यानी पढ़े-लिखे, पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त धनवान, यशवान) तबकों से अत्यंत गलीज गंदी बस्तियों, वेश्याओं के मोहल्लों, शराबियों के अड्डों, चंडूखानों, भैरवियों और कापालिकों के मठों और बहुत मजबूर निम्न-मध्यमवर्ग के मास्टर-कलाकार किस्म के लोगों के बीच गया हूं. यह मेरी जिज्ञासा रही है. अज्ञेय की 'जीवनी शक्ति' कहानी 'विशाल भारत' में 1938 में छपी थी—तब से अब तक आंकड़े उलट गये हैं, तीन-आठ के बदले आठ-तीन, पर हालात बेहतर नहीं हुए. नेता आये, नेता गये. लेक्चर झाड़ गये, लेक्चर बिछाये गये, लेक्चर समेट लिये गये. पार्टियां बनीं, टूटीं, फिर बनीं. यह मनुष्य की आदिम जिजीविषा बराबर उसे नचाये चली जा रही है: दुर्गा मां—रक्षा करो!—कराल दंष्ट्र, महिषासुरमर्दिनी सिंह वाहिनी, त्रिनेधारिणी शक्ति—अद्भुत है तेरी लीला! तू कहां नहीं प्रकट हो जाती है!

कवि नवल बोले, "आप तो प्यूरिटन हैं. आपने मुजरा नहीं देखा होगा?" मैं मुस्कराया, "शरदबाबू ने जिस बहू-बाजार को अमर कर दिया, वहां से आपको चाहिए हो तो कलकत्ता की छह-सात असल-असल बदनाम बस्तियों के नाम गिना दूं." वहीं मैंने एक दृश्य देखा. एक सेठजी बहुत पी गये, कुछ ज्यादा ही असंस्कृत हरकतें करने लगे. उसने 'मिर्जापुरी कजरी' और सिनेमा की गजलें छोटी नोट-बुक में उर्दू से देवनागरी में नोट कर ली थीं. बड़े दर्द से गानेवाली कांता या शांता 'अनामिका' ने सेठजी की चप्पलों से पिटाई की, अपने साजिंदों से जीने से नीचे उतरवा दिया. रह गये उनके सौ-सौ के नोट जो उन्होंने उन पर न्योछावर किये थे! वैसे सेठजी परमधार्मिक पिता के परम आज्ञाकारी, व्यापारी सुपुत्र, सुगृहस्थ सुपिता थे—यह नहीं बताना होगा.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

▣ डा. प्रभाकर माचवे
जन्म : ग्वालियर; 26 दिसंबर, 1917
शिक्षा : एम. ए. (दर्शन), एम. ए. (अंग्रेजी साहित्य), पी. एच. डी. (हिंदी)
प्रकाशन : हिंदी, अंग्रेजी, मराठी में 65 पुस्तकें प्रकाशित
संप्रति : विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर कार्यरत रहने के बाद आजकल वृंदावन शोध संस्थान में निदेशक.

मैंने यहां जीवन को रेंगते हुए, तिलतिलाते हुए, अंधेरे से जूझते हुए, लालटेन की मद्धिम रोशनी में रास्ता टटोलते हुए अंधे बूढ़े बाप को लाठी की तरह सहारा देते हुए, परम सुंदरी लावण्यवती गरीबिन को लंगड़े पति को अपने कंधे पर ढोते हुए, अनाथ पड़े हुए बच्चे को उठाकर दूध पिलाते हुए, बिना नाम-गोत्र धर्म-जाति पूछे शरणार्थियों को आश्रय और भोजन देते हुए, किसी अज्ञात भारत के विदेशी कलाकार या लेखक को मुफ्त चाय-काफी, बीयर, शौकिया तौर पर बिना किसी प्रत्याशा या फलाकांक्षा के पिलाते हुए देखा है. मैंने यहां सवेरे विक्टोरिया में ब्रेड के टुकड़े पचासों कौओं को रोज खिलाते हुए लोगों को देखा है, और ओडिसी की तरुण नर्तकी को शिकायत करते हुए सुना है कि गुरुजी पैसेवाले शिष्यों या विदेशिनी शिष्याओं की ओर अधिक कयान देते हैं. जहां राजस्थानियों के संपर्क से बंगाली भी पैसे के मामले में कंजूस बनते जाते देखे हैं, वहां बंगालियों के संपर्क में राजस्थानी अपनी भाषा, अपनी पहचान भूलते हुए देखे हैं. जीवन, मृत्यु के साथ ताश खेलता है. कभी हार है, कभी जीत है. कभी सिक्के का सिर ऊपर है, कभी तला (हेड आर टेल), कभी चित्त, कभी पट, ! जीवन हुगली की नदी के मटमैले पानी की तरह, अपने साथ फेंका गया कूड़ा, गंदगी, मुर्दे, बेकार की चीजें, कचरा, बहाता चला जाता है जीवन का एक अर्थ है पानी—वह अपने-आप में परिशोधित करने की शक्ति रखता है.

मौत भी मनुष्य को अपने ठिकाने लगा देती है, परिशुद्ध कर देती है. दोस्तोयेव्स्की को मौत की सजा सुनायी गयी. फांसी के तख्ते तक ले गये. एकदम हुक्म आया—'उसकी जान बख्श दी गयी'. इस बात पर उसकी कचट्ठी अपने भाई के नाम पढ़िए—उसके बाल रातों-रात सफेद हो गये—वह जनमभर के लिए 'नर्वसनेस' का शिकार हो गया.

कलकत्ता में 'मौत' से सीधे साक्षात्कार: दो-चार बार बड़े लोगों की शवयात्रा में शामिल हुआ, जिनमें सीताराम सेक्सरिया का नाम मैं नहीं भूल सकता. उनकी मृत्यु के बाद तीन दिन तक मैं अन्न नहीं ग्रहण कर सका—वहां नीमतल्ला के बड़ा तल्ला घाट जाना हुआ. वैसे हम रहते थे उसके पास ही. वह ऐतिहासिक 'सीमेटरी' (ईसाई कब्रिस्तान) है जहां विलियम जोंस और डेरोजिया और माइकेल मधुसूदन दत्त दफनाये गये. मृत्यु भी अपने-आप में एक बहुत बड़ी अध्यापिका है. यह बात दूसरी है कि अधिकांश लोग बहुत ही मूर्ख और जाहिल छात्र साबित होते हैं.

सो, जैसे हुगली का पुल दोनों किनारों के बीच झूल रहा है, मौत और पुनर्जन्म के बीच जीवन भी बराबर झूल रहा है. कलकत्ता मरा नहीं, न कभी पूरा मरेगा. कोई शहर पूरा कभी नहीं मरता. रोम भी नहीं और विजयनगर भी नहीं—इतिहास उसके साथ जुड़ जाता है और वह स्मृति-शरीर बनकर जीता जाता है. 36 चौरंगी लेन के रूप में एक कलकत्ता जीता है, 'पथेर पंचाली' के रूप में दूसरा कलकत्ता जीता है, ऋत्विक घटक के 'सुवर्णरेखा' के रूप में तीसरा कलकत्ता जीता है. जब उत्तपल दत्त माइकेल पर नाटक लिखते हैं—'दांडाओ पथिकबर' तो उन्नीसवीं शती का कलकत्ता थोड़ा सहम जाता है, ठहर जाता है. 'साहब, बीबी, गुलाम' कलकत्ता को फिर जीवित करता है. 'बेटे साहब का मुंशी' वही करता है. कहां मरा है कलकत्ता ? विकास भट्टाचार्य के चित्र 'दादी मां की मृत्यु' की तरह वह फिर जीवित हो उठता है. अर्ध-जागृत, अर्ध-सुप्त, अर्ध-सिहरन प्राप्त समरेश बसु ने कलकत्ता को जिया-मरा देखा है.

कलकत्ता पर लुईमाल वृत्तचित्र बनाता है. पंत चिढ़ते हैं. बी. बी. सी. से संबंध टूटते हैं. कैथेराइन मेत्सो 'मदर इंडिया' का आरंभ कलकत्ता के भीषण काशीघाट पर बलि दृश्य से करती है. 'गुइंटर ग्रास' 'फाउंडर्स' में कलकत्ता को 'ईश्वर की विष्ठा' कहता है. हम विदेशियों के सब वर्णन पढ़ते हैं, चुपचाप. पर 1943 के अकाल के समय से मैं बंगाल की, भूखे बंगाल की तस्वीरें, उस पर कविताएं, गल्प-उपन्यास, रिपोर्ताज पढ़-पढ़कर आदी हो चुका हूं. मृणाल सेन ने तो 'अकालेर संधाने' में एक सिनिकल (सिनेमाई?) दृष्टि भी दे दी. कितनी देर लगती है लोगों को भूलते ? 1946 के भयानक खयालात, बापू का शांति-चंदन, बंगला देश का मुक्ति संग्राम. लाखों-करोड़ों 'बहिरागत' शरणार्थियों की चीटियों जैसी पंक्तियां. 'भात दो, दो मुट्ठी भात !'... गिरते-उठते, मरते-पड़ते मानवता के ये कंकाल, ये शिव की बरात के भूत-पिशाच . . . ये जीवन-मृत्यु के प्रतीक कहां जा रहे हैं ?

"सारी समस्या अस्तित्व की है ?"

मैंने पूछा, "किसके अस्तित्व की ? प्रदूषण से पानी में मरनेवाली मछलियों के अस्तित्व की ? सुंदरवन में शेरों की नसल के अस्तित्व की ? या मगरों के अस्तित्व की ? या भिखारियों, कोढ़ियों और बेरोजगारों के अस्तित्व की ? या स्मगलरों, राजनैतिक धूर्तों, अवसरवादियों और सूदखोरों के अस्तित्व की ?"

"समस्या आध्यात्मिक है"

"आपके लिए होगी ! कलकत्ता ने रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, योगी अरविंद, गोपीनाथ कविराज, माता आनंदमयी, जैसे अध्यात्म-यात्रा के पथिकों को देखा. समस्या तो वहीं की वहीं. आत्मा तो समस्याओं से परे होती है."

"हो सकती है. पर उस गरीब का क्या कीजिएगा, जिसके लिए प्रतिदिन, प्रतिक्षण जीवन-मरण की समस्या प्रधान है. दो जून रोटी और भूख, बल्कि भात और पेट के गढ़े का समीकरण जुटाने में ही उनकी शक्ति, उनका समय, उनका श्रम सब नष्ट हो जाता है. नहीं जानते हैं कि बचपन कब बीतता है, जवानी कब खत्म हो जाती है, बुढ़ापा कब आता है. सब मौत के मुंह में खिंचा चला जा रहा है. . ."

"मार्क्स की मूर्ति पै मैं तो डाल आयी माला. . ." 'ख्वाजा के कलश पै' की तर्ज पर पगली गा रही थी. वह नहीं जानती थी कि बुत बदल जाने से भाग्य भी बदल जाने की उम्मीद तो बंधी पर यह अधमरापन ? . . . क्यों है ?

हम काफी-हाउस पहुंचे. कुछ अर्धशिक्षित, बीड़ी-सिगरेट के धुएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से घिरे, लकबक करते अपने-आपको सार्त्र और ग्राहम ग्रीन समझने-वाले दुबले-पतले, चिपके-गालों के बंगाली, हिंदीभाषी बौद्धिक 'फ्री लांसर' बैठे थे. उनके 'लांस' गायब थे. उन्होंने ऐतिहासिक कारण मीमांसा देनी शुरू की. एक कोर्स—कलकत्ता इसलिए मरा कि इसने अपनी जड़ें भुला दीं.

"अब कौन जानता है. मूल कारण बौद्ध धर्म था!"

दूसरे—भाई, बौद्ध धर्म तो बड़ा प्रगतिशील धर्म था, बहुत आधुनिक.

तीसरे—सावरकर ने लिखा है कि हिंदुत्व के पतन का पहला कारण बौद्ध और जैन हैं. उन्होंने मुस्लिम आक्रमण का सामना नहीं किया.

चौथा—मेरा स्पष्ट मत है कि कलकत्ता की मूल समस्या यहां के मुस्लिम अल्पसंख्यक हैं. उन्हीं की वजह से विभाजन हुआ, बाद में बांग्लादेश बना. वे यहां के हिंदुओं से एकाकार हो ही नहीं पाये.

पांचवां—आप भूलते हैं, उनमें संदेह और असुरक्षा की भावना अंग्रेजों ने पैदा की. इसके पहले तो मुस्लिम राजाओं ने बंगला साहित्य को इतना प्रोत्साहन दिया. बंगाली के कितने अच्छे कवि और लेखक मुस्लिम हैं. . . लालन फकीर से काजी नजरुल तक. आप लोग तो यों-ही पूर्वग्रह-दूषित होते हैं. मरण के बीज स्वयं में हैं, दोष औरों पर डालते हैं.

छठा—सबसे बड़ा कारण है भारत में ब्रिटिश व्यापार, अंग्रेजी राज रहा. देखिए, क्या छोड़ गये. . . कुछ ईसाई और कुछ आधे-अधूरे अधमरे भारतीय अंग्रेजी लेखक! जब तक अंग्रेजी इस देश में रहेगी. कलकत्ता अधमरा रहेगा.

सातवां—आप डा. लोहिया के चेले लगते हैं. पर मरणोपरांत उनके रमा मित्र के साथ पत्र अंग्रेजी में छपे हैं.

आठवां—मुंडे-मुंडे मतिभिन्न:!. . . भाईसाहब, मुसलमान और अंग्रेजों के राज गये सदियां और दशक बीते. अभी तक आप उसी को लेकर रो रहे हो? आज कलकत्ता अधमरा अपने ही भाइयों ने बना रखा है. एक करोड़ आबादी है. बहुसंख्यक बंगाली हैं, पर उनके हाथ में अधिक सत्ता नहीं.

इस तरह उहापोह चलता रहा. इतने में एक तमाशा हुआ. कॉफी हाउस के बाहर एक बम का धमाका हुआ. पुलिस आ गयी. हमारे बौद्धिक दुम दबाकर भाग खड़े हुए. एक बेचारा राह चलता गरीब अंधा भिखारी बम की चपेट में आ गया. उसके अंगच्छेद से रक्त बहने लगा. कोई हाल-पुरसा नहीं. किसी ने एबुलेंस बुलायी. तब तक वह तड़पकर मर चुका था. लावारिस लाश का जो भी हश्र होता है वही किया गया होगा.

घटना हुई. आयी-गयी हो गयी. मच्छर और मक्खी की तरह रोज ही सैकड़ों हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, सिख, जैन मरते हैं. महानगर है. अमीर मरते हैं. गरीब मरते हैं. हमको क्या फर्क पड़ता है!

हुगली के पुल पर खड़े दर्शकों को नीचे बहकर क्या जा रहा है, इसका तारतम्य कहां रहता है? सब बराबर हैं. डोंगी हो, बजरा हो, नाव हो, जहाज हो—सब जलयान हैं. मटियाली दूर से गायी जा रही है. रवींद्रनाथ की गीत है—

शुधू जाबा—आशा
शुधू जाबा —आशा
शुधू स्रोतेर आशा. . . .

(सिर्फ आना-जाना, सिर्फ जाना-आना चला जा रहा है. सिर्फ स्रोत की ओर जाने की आशा है!)

जब तक लाख आदमी उस पुल पर से रोज आते-जाते रहते हैं तो क्या याद रहता है? एक प्रक्रिया है—इतिहास में नगर, महानगर, केत, निकेत, साकेत सब बसते-बसते-उजड़ते जाते हैं. कौन मरता है. कौन जीता है. दुर्गा के गले में मुंडमाला है. हाथ में खड्ग है! वह महाकाल की अंकशायिनी है. वही सर्वशक्तिमति है!

कहानियों का सत्य

■ अज्ञेय

कहानियों के बारे में लेखक का वक्तव्य क्या हो सकता है? उपन्यास के बारे में तो फिर भी कुछ कहने की गुंजाइश होती है, क्योंकि उसमें जीवन का एक दर्शन होता है. कहानियों के सत्य में उतनी व्याप्ति नहीं होती; वह एक क्षण का, एक मनःस्थिति का सत्य है, एक दौड़ती लहर का गति-चित्र. वह गति-चित्र आपको दीख जाये और देखने में आपका मन भी थोड़ी देर के लिए उलझा जाये, तो लेखक को और कुछ नहीं चाहिए.

यों कुल मिलाकर, जीवन के बारे में मेरे कुछ विचार अवश्य हैं और मैं यह भी चाहता हूं कि वे आपको रुचें; क्योंकि जीवन से, जीने की भावना से मुझे प्रेम है और मैं चाहता हूं कि वह प्रेम आपका अनुमोदन और सम्मान पाये.

—'जयदोल' कहानी संग्रह की सन् 1950 में लिखी भूमिका से

प्रस्तुति : बोज

क्या उसकी जनम-मरण की परिभाषा दूसरी है?

एक दुनिया उजाड़े बिना शायद दूसरी बसती नहीं. चंद्रमुखी ने शरतचंद्र को यही भगसपुर्य सिखाया था क्या? 'शेबेर कविता' में जाकर रवि बाबू इसे थोड़ा-थोड़ा समझ पाये—वैष्णव सोकर्म में. शुरू में मानुसिंह ने चाहे लिख दिया हो—'मरण रे तुहं मम श्याम समान!' नजरुल ने इस जिंदगी में ही यह अधमरापन भोग लिया. मैंने ढाका में 1973 में उनके पैर छुए थे—पैर उन्होंने समेट लिये थे. जीवनानंद दास ने कविता में लिखा कि हथेली की रेखाएं ट्राम की लाइनों की तरह 'क्रिस-क्रास' हैं; उसी ट्राम के नीचे उनकी अकाल मृत्यु हुई. बेचारा सुकांत? उसे मृत्यु का हरकारा 'रानार, रानार' करकर भगा ले गया अल्पायु में. . .

नहीं, कलकत्ता मरा नहीं है, अभी वह गणेश पाइन के चित्रों में जिंदा है. अभी वह सत्यजीत राय के कैमरे में जिंदा है. अभी वह मदर टेरेसा के वत्सल करुणांचल में जीवित है. कितने अज्ञात नाम, अज्ञात-परिभाषित साधारण अच्छे लोग यहां हैं, जो लाभ-लोभ से परे एक-दूसरे के सुख-दुख में, आड़े वक्त में काम आते हैं. मैं ऐसे कणों को इकट्ठा करता रहा. सारा समुद्र खारा नहीं है. कई सोते हैं जो ताजे पानी के हैं. कई पोखरों में ऊपर से ही सिवार, कांदो-काई है, वहां कमल भी विहंस रहे हैं.

रात-रात भर कांकड़ लेकर 'जय भोले बाबा' तारकनाथ की यात्रा पर ये धनी लोग चले जा रहे हैं. 'जात्रा' से हजारों लोग जुड़े हैं. हर साल चार हजार दुर्गा-प्रतिमाएं बनती हैं, विसर्जित होती हैं.

अधमरा कलकत्ता, उनके लिए है, जिनका बैंक-एकाउंट चढ़ता-उतरता रहता है! वह हम जैसे प्रवासियों, सैलानियों को लगता हो, पर जिन्हें वहीं जन्म लेना, जीना, जूझना, मरना है, उनके लिए निजात कहां है? बकौल गालिब—'मौत से पहले आदमी गम से निजात पाये क्यों?'

मटियाबुर्ज में वाजिद अलीशाह के वंशज मुशायरे करते हैं. कलकत्तिया शायर कहते हैं :—

मस्जिदें जलती रहीं, मंदिरों से बुत बिके,
इसी पसोपेश में हम मार्क्सवादी हो चले!

● वृंदावन शोध संस्थान, वृंदावन-281121

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धि के ताप का विरोध और उसी का शिकार : दशार्क

गोविंद मिश्र

उस समय जब जैनेंद्र जी स्वयं से किसी बड़ी रचना की अपेक्षा नहीं करते थे, जब अपने संदर्भ में वे आलस्य को लगभग एक मूल्य की तरह प्रतिष्ठापित भी कर चुके थे—उस समय 'दशार्क' का प्रकाशित होना एक प्रीतिकर घटना है. मेरे लिए इस मायने में और भी कि यह आज की स्पर्द्धा-संस्कृति द्वारा साहित्यकारों के लिए गढ़े गये एक चालू मुहावरे को झुठलाता है. हम किस मजे से यह कहकर खुश हो जाते हैं कि फलां लेखक चुक गया, लेकिन क्यों न हम चुकने वाली स्थिति को 'हाइबरनेशन' मानें—उत्तरी ध्रुव के जीव-जंतु पूरे छह माह के लिए बर्फ की किसी गुफा में घुस जाते हैं, उनकी नैसर्गिक क्रियाएं भी समाप्तप्रायः हो जाती हैं, शरीर का तापमान एकदम गिर जाता है, लेकिन छह माह बाद वे फिर निकलते हैं, जीवन उनमें फिर थिरकता है.

लेखक की बात यहीं खत्म हो जानी चाहिए. लेखक सिर्फ इसलिए है कि रचना है, लेखक नहीं रहता, रचना रहती है. रचना की लेखक से अलग और उसकी दूसरी रचनाओं से तो बिल्कुल अलग अपनी एक नजी स्वायत्तता है. इसलिए मैं जैनेंद्रजी की पुरानी रचनाओं की बात भी कतई नहीं सुनाऊंगा. 'दशार्क' को पढ़कर एक सुखद अनुभूति यह हुई कि कैसे रचनात्मकता विधागत सीमाओं को तोड़-ताड़कर उस रास्ते चलती है जिससे वह जाना चाहती है. जो 'दशार्क' को सिर्फ उपन्यास मानकर पढ़ेंगे उन्हें निराशा होगी, होती है. गो कि उपन्यास क्या है—यह मुझे भी नहीं मालूम. प्रमुख औपन्यासिक तत्व तो हैं यहां, रंजना का घर छोड़ने से घर वापस आने तक का एक बारीक कथा-तंतु. इस दर्म्यान जो लोग रंजना से प्रभावित होकर या प्रभावित होने आते हैं, उनका थोड़ा-थोड़ा चरित्रांकन, देश-काल परवेश उतना ही जिसके बगैर काम नहीं चलता और वह—क्या कहा जाता है उसे—'जीवन दृष्टि', वह तो एकदम साफ है. वैचारिक पक्ष क्या. . .पूरा का पूरा चिंतन है यहां. फिर क्या है जो छूट गया? गड़बड़ी शायद यह हुई कि चिंतन अपनी जिस तेजस्विता को लेकर चला, उसने बाकी सब चीजें सोख डालीं. इसलिए 'दशार्क' उपन्यास कम एक चिंतनग्रंथ ज्यादा लगता है. जिस जीवन की बात यहां उठायी गयी है, वह किसी ठोस यथार्थ-भूमि

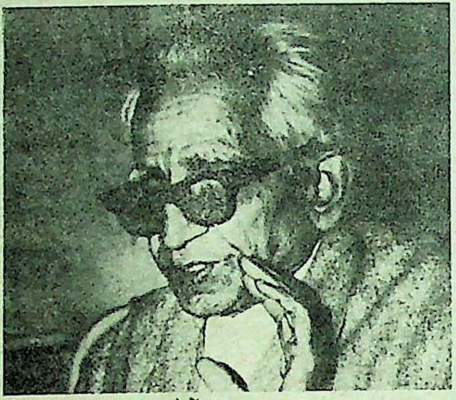

जैनेंद्र कुमार

पर न होने के कारण भाप बन उड़-उड़ जाता है. इसी तरह चरित्र—अधिकतर टाइप, वे रंजना के जीवन में प्रवेश नहीं करते कि जीवंत उलझावों-तनावों की सृष्टि होती. ऐसा प्रखर है रंजना का व्यक्तित्व कि जो खटखटाते हैं, उसमें कितने तो बाहर से ही उसे देखकर लौट जाते हैं, प्रभावित होकर, बुझकर. वे जिन्हें भीतर आने का गौरव मिलता है वे भी सिर्फ उसके भव्य कमरे भर में बैठते हैं, रंजना में उतरने की छूट किसी को नहीं है. रंजना का व्यक्तित्व हर के लिए भारी पड़ता है. रिश्ते कोई बराबरी वाले नहीं हैं यहां. सब पूछते हैं, रंजना उत्तर देती है. रंजना बोलती है. सब सुनते हैं. मुनि विद्यासागर और अमेदानंद भी जहां आते हैं, रंजना की ही बात बोलते हैं. नाम-मात्र के तनाव की सृष्टि होती है मानिक के साथ, पर वह प्यार और पैसे के प्रतीक स्तर तक भी नहीं पहुंचता. रंजना की स्वयं की यात्रा भी कहीं से कहीं तक की नहीं है. पहले छह पृष्ठों में ही घर छोड़ने का क्रम समाप्त है. **'आखिर पत्नी का अंत हुआ और एक नव रमणी का अविर्भाव हुआ.'** इसलिए शुरू से ही रंजना 'आविर्भावित' है. . .जब तक घर वापस नहीं जाती, उसे सिर्फ अपना प्रचार प्रसार करना है. . . स्वयं कुछ होना नहीं है.

यह सब कहने की जरूरत भी नहीं थी क्योंकि लेखक भूमिका में स्वयं स्वीकारता है—**'उपन्यास के आरंभ से ही पता मिल जायेगा कि इसके यथार्थ होने की प्रतीति देने की कोई चेष्टा नहीं की गयी है. कथा तो बहाना है. उसके कहने का मंतव्य कहीं अलग है. कुछ दूर है. हमारे व्यवस्थापक जन-जीवन के आर्थिक पहलू को बहुत महत्व देते हैं. . .'**

'दशार्क' से गुजरते हुए कई बार आभास होता है कि लेखक एक पूरे का पूरा चिंतन को विकसित करने के लिए बेचैन हैं. जो चिंतन अंततः सामने आता है, खासा प्रभावशाली है—यह आज के समय-समाज-सभ्यता से उठता हुआ सृष्टि की संरचना तक जाता है. विवाद, नारी, वेश्यावृत्ति जैसे मूलभूत सामाजिक प्रश्नों से टकराता है, प्रेम और जीवन को परिभाषित करने का प्रयत्न करता है, यहां तक कि अणुयुद्ध की आशंका के राजनीतिक सरोकार को भी अपने में समेटता है: ऐसा भी नहीं कि चिंतन में बिखराव हो. दोहराव है, लेकिन वह एक केंद्रीभूत आग्रह के आस-पास सिमटता चलता है. यह आग्रह है कि पैसे ने हमें ठग लिया है, हमारा मूलमंत्र ध्यान की जगह व्यापार हो गया है. . .इसीलिए नारी माल हो गयी है और सभ्यता युद्ध के कगार पर आ खड़ी हुई है. तो चिंतन का मुख्य आशय है पैसे की जगह प्यार की स्थापना, या कम से कम अर्थ और काम के दृष्टि बिंदुओं को समीप लाना. (मजेदार बात यह कि जैनेंद्रजी पता नहीं कितना हंसी में, कितना गंभीरता में पैसे के प्रति अपनी ललक स्वीकार करते रहे हैं. . . ? शायद 'दशार्क' में आशय पैसे के अतिरेक या पैसे द्वारा निर्देशित जीवन प्रणाली से है.) इस चिंतन को व्यक्त किया गया है नायिका रंजना की कथनी और करनी से. वह सबको अपने प्यार का संस्पर्श देती है, वेश्याओं में गिनी जाती हुई भी मान्य है क्योंकि शरीर को उसने बराबर बचाकर रखा है. और नगर में एक जागृति, एक वैचारिक आंधी—जिसमें वेश्याएं भी हिस्सा लेती हैं—पैदा कर, वह अपने घर—प्रेम का केंद्र बिंदु—की ओर मुड़ जाती है. यह आदर्शवादी चिंतन रंजना की जीवन-यात्रा के माध्यम से कम, उसकी वैचारिक यात्रा. . . नहीं, वहां तो यात्रा है ही नहीं. . .रंजना के प्रचारात्मक संभाषणों के माध्यम से ज्यादा व्यक्त हुआ है.

चिंतन की मूल अवधारणा से किसी दुराग्रही की ही असहमति होगी, इसलिए विचार की विलक्षणता का रस मिलता है, जिस तरह से जैनेंद्र जीवन की छोटी से-छोटी बीज से लेकर सृष्टि संबंधी बड़ी से बड़ी बातों को इस सोच के तहत ले आते हैं. या फिर जिस तरह एक फ्लैश वे कोई विलक्षण बात कह जाते हैं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वह नहीं समझ पाती कि प्रार्थना के बिना कैसे जिया जा सकता है अपने को अन्यथा कैसे खोया जा सकता है.'

'मुद्रा की अतिशयता से मिलने वाली ये सुख-सुविधा क्या समाज और सभ्यता का अभिशाप नहीं हैं? और वेश्यापन क्या होता है'

'आप (वेश्याएं) कुचली हैं, पामाल हैं, औरत हैं, सबकी दुरदुराहट के लिए पीकदान हैं लेकिन मैं जानती हूं कि आप थामे हुए हैं. इस सारी चीज को जिसे तहजीब माना जाता है. पैसे का जो फरेब दुनिया को जकड़े हुए है उसको आप-हम औरतों का प्यार ही तोड़ सकता है और आगे आने वाला जमाना शायद इसी का इंतजार कर रहा है."

'आपके पास जो आता है. . .क्या आपकी निगाह उसके पैसे से हटकर वहां नहीं जा सकती, जहां उसका दुख है? पैसा तो उसे छोड़ना ही है.'

'शब्द चलता है 'पीपुल्स पावर' पर पावर पूंजी की है. . मार्क्स गरीबी से गुजरा, पर गरीबी वो ऋषि की न थी जो महिमा देती! निम्नता के बांध से उसके मन को छुटकारा न मिला. मूल में शायद उसका मानस पूंजी की ताकत के बोध से मुक्त नहीं, आतंकित था. इसीलिए वो ताकत वहां से गयी नहीं और केंद्रित और पूंजीभूत हो गयी.'

'बुद्धि के ताप से तप रही है, दुनिया हांफ रही है. मैं प्यार देती हूं, ताप को शांति, शीतलता देती हूं.'

'सोचें, क्या है जिस पर हम टिके हैं? धरती के लिए गुरुत्वाकर्षण, अपने लिए कह दीजिए स्वत्वाकर्षण. लेकिन किसी के लिए वह काफी नहीं है. हर कुछ प्रत्याकर्षण में आबद्ध है. चांद धरती के और धरती सूरज के प्रति चक्कराये बिना न रहेगी, यह प्रत्याकर्षण. लेकिन सारा सौरमंडल जैसा कि सारा मानव संसार, एक परमाकर्षण में खिंचा जा रहा है. स्वयं अपने प्रति और दूसरे के प्रति आकर्षण के इस परमाकर्षण के अंगभूत हैं.'

ऐसे स्थलों पर जैनेंद्र वह हैं, जिसके लिए वे जाने जाते हैं, यहां साहित्य बरसता है. . भले ही उपन्यास बन सका हो या नहीं.

जैनेंद्र जी ने हाल ही में मुझसे कहा था कि आज साहित्य में विचार का महत्व ही सर्वोपरि है, क्योंकि चीजें बहुत जटिल हो गयी हैं. लेकिन जिस तरह तर्क-दर-तर्क स्वयं बुनता हुआ विचार आकार लेता है, वह चीजों को क्या और भी जटिल नहीं बना देता? क्या दूसरी तरह की तर्क श्रृंखला से उस विचार को खारिज न सही तो खंडित नहीं किया जा सकता? यह उस विचार का प्रचार करने के लिए या उस पर विश्वास जमाने के लिए फिर एक तर्क श्रृंखला नहीं चाहिए? अगर हां. तो क्या हमारी स्थिति उस विचार में विश्वास और अविश्वास के बीच झूलते रहने से बेहतर कभी हो सकेगी? पूरी विनम्रता के साथ जैनेंद्र जी से कहना चाहूंगा कि आज हमें विचार नहीं आस्था चाहिए और हां, रंजना भी प्यार की बजाय 'विचार' की महिमा क्यों नहीं गाती?

एक सवाल बराबर उठता रहा है कि यह जो रंजना है. . . इतनी प्रबुद्ध, बात-बात में प्रेम का आग्रह करने वाली, प्रेम का सत ही रूप समझने का दावा करनेवाली, वगैरह वगैरह. . . यह स्वयं प्रेम में, उसके भाव में पूरी तरह क्यों नहीं उतर सकी, क्यों नहीं उतरती? क्यों प्रेम के एक चतुर मैनेजर की तरह स्वयं को थोड़ा-थोड़ा सब जगह देती हुई अपने को संभालती बचाती चलती है? क्यों घर—प्रेम के केंद्र बिंदु—को छोड़ने की जरूरत हुई उसे? वह प्रेम के चरणामृत को चहुं ओर छिड़कने में पारंगत है, पति भी आता है तो इसके आगे कुछ और नहीं दे पाती, कहीं ऐसा तो नहीं कि बुद्धि के जिस ताप की बात वह करती है, वह स्वयं भी उसकी शिकार है और भावनाओं में न उतरकर सिर्फ व्याख्याओं में बने रहकर लेखक भी जाने-अनजाने उसी ताप का शिकार हो गया है?

और हां, किसी चीज को नकारते-नकारते उसी का शिकार हो बैठना. . . यह या ऐसी मानवीय विसंगतियां.. यह वह क्षेत्र है, जहां चिंतन को समाप्त होना पड़ता है और जहां से बात फिर साहित्य ही उठाता है. □

● **दशार्क : जैनेंद्र कुमार; प्रकाशक: पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, नयी दिल्ली-2; मूल्य : 60 रुपये.**

सादगी भरी आत्मीय नजर

—अलका पांडे

हिंदी के वरिष्ठ कथाकारों में प्रायः संस्मरण और रेखाचित्र लिखने की प्रवृत्ति कम ही पायी गयी है. अज्ञेय, उपेंद्रनाथ अश्क और महादेवी वर्मा के बाद यदि इस दिशा में कोई सक्रिय रचनाकार नजर आता है तो वह निस्संदेह विष्णु प्रभाकर ही हैं. विष्णु जी के संस्मरणों और रेखाचित्रों का चौथा संग्रह 'मेरे हमसफर' पढ़कर यह धारणा और बलवती हुई है. इससे पूर्व 'मेरे अग्रज, मेरे मीत' के माध्यम से भी विष्णु जी के संस्मरणकार का महत्वपूर्ण स्वरूप सामने आया था. मैथिलीशरण गुप्त, शिवपूजन सहाय, निराला, राहुल, नागार्जुन, मामा वरेरकर, सी. वी. रमन, हेलन केलर और खुद अपने आप को रचनाकार एक व्यक्तित्व के रूप में किस तरह देखता-परखता है, यह एक उल्लेखनीय मसला है. सहज न हो पानेवाले निराला के करीब हों या शिशु राहुल की चमकती आंखों में झांकने की कोशिश, अव्यवस्थित यायावरी के लिए ख्यात नागार्जुन को समझना हो या जगत-मामा वरेरकर के बिल्कुल करीब पहुंचना, आत्मनिष्ठा की प्रतिमूर्ति हेलन केलर के ज्वलंत विश्वास को अनुभव के स्तर पर जीना हो या सी.वी. रमन जैसे पारदर्शी व्यक्तित्व को भाषा में बांधकर कागज पर उतार देना. . . विष्णु प्रभाकर एक सहज, शांत और जिज्ञासु दृष्टि से अपना काम पूरा करते नजर आते हैं. 'मेरे हमसफर' में जहां विष्णु जी 'विष्णु प्रभाकर : अपनी निगाह में' भी शामिल करते हैं. . .तब लगता है कि वे खुद अपने भीतर भी एक तटस्थ दृष्टिपात करना चाहते हैं. अपने भीतर जिस जीने की लालसा का जिक्र लेखक ने किया है वह सच ही है. जो लोग विष्णुजी को करीब से पहचानते हैं. . . वे इस 'सच' का सही अर्थ समझ रहे होंगे! विष्णुजी जैसी सादगी भरी आत्मीय नजर और नजरिया समझने के लिए इस 'सच' को समझना जरूरी भी है. □

● मेरे हमसफर : विष्णु प्रभाकर; प्रकाशक : सृजन प्रकाशन, हापुड़. मूल्य : 25 रुपये.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलीगढ़ का जनवादी कथा समारोह : एक रपट

कहानी आज भी सुनने-सुनाने की चीज है!

कहानी लिखने और पढ़ने की चीज तो बाद में बनी, मूलतः तो वह सुनने-सुनाने की ही चीज है. पिछले वर्षों में कहानी-पाठ की छोटी-छोटी गोष्ठियों के तो कई आयोजन हुए हैं, लेकिन अलीगढ़ में जनवादी लेखक संघ द्वारा 28 जुलाई, 1985 को आयोजित कहानी-पाठ और चर्चा का कार्यक्रम एक अद्भुत और अविस्मरणीय अनुभव रहा.

कुंवरपाल सिंह और **नमिता सिंह** द्वारा संयोजित इस राष्ट्रीय कथाकार सम्मेलन में देश के विभिन्न भागों से आये हुए विभिन्न पीढ़ियों के चालीस से अधिक कथाकारों ने हिस्सा लिया, जिनमें हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के कथाकार शामिल थे. **भैरव-प्रसाद गुप्त** जैसे वयोवृद्ध कथाकार से लेकर **अशोक सक्सेना** जैसे बिल्कुल नये कहानीकारों तक ने अपनी कहानियां पढ़कर सुनायीं.

यह कथा समारोह दो सत्रों में संपन्न हुआ. पहले सत्र में रमाकांत ने 'सड़क, शहीद और नाम', धर्मेंद्र गुप्त ने 'समुद्र', रमेश उपाध्याय ने 'लाइ लो', नीरज सिंह ने 'जरूरत' और अशोक सक्सेना ने 'ओवर एज' नामक कहानियां पढ़कर सुनायीं. प्रदीप मांडव ने अपने अप्रकाशित उपन्यास 'मिट्टी का घोड़ा, लोहे की लगाम' का एक अंश पढ़कर सुनाया. कहानी-पाठ के बाद **ओमप्रकाश ग्रेवाल, विजयबहादुर सिंह** और **नीलकांत** ने पढ़ी गयी कहानियों पर अपने विचार व्यक्त किये. इस सत्र का संचालन **चंद्रभूषण तिवारी** ने किया, जिन्होंने आरंभ में समकालीन हिंदी कहानी पर और बीच-बीच में पढ़ी गयी कहानियों पर संक्षिप्त किंतु सारगर्भित टिप्पणियां कीं. इस सत्र की अध्यक्षता **भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कंडेय, शिवकुमार मिश्र** और **दूधनाथ सिंह** ने की.

इस सत्र की विशेषता यह रही कि ओमप्रकाश ग्रेवाल की संतुलित समीक्षा के बाद **विजयबहादुर सिंह** और **नीलकांत** ने नितांत नकारात्मक आलोचना का रुख अपनाया, जिसके कारण उन्हें स्वयं अन्य लोगों की आलोचना का लक्ष्य बनना पड़ा. **विजय बहादुर सिंह** ने एक झटके में सब कहानियों को खारिज करते हुए कहा कि ये कहानियां कोई रचनात्मक अनुभव नहीं देतीं और इन्हें सुनकर ऐसा लगता है कि हिंदी कहानी ने प्रेमचंद के बाद कोई विकास नहीं किया है.

नीलकांत ने **रमेश उपाध्याय** की कहानी **'लाइ लो'** की तीखी आलोचना करते हुए **चंद्रभूषण तिवारी** को आड़े हाथों लिया कि उन्होंने इस कहानी को एक नया प्रयोग कैसे कह दिया. उन्होंने **ओमप्रकाश ग्रेवाल** पर भी अपनी नाराजगी जाहिर की और कहा कि इस नितांत प्रकृतवादी कहानी को उन्होंने यथार्थवादी कहानी कैसे मान लिया.

रमाकांत और **धर्मेंद्र गुप्त** को आलोचकों का यह रवैया अच्छा नहीं लगा. उन्होंने अपनी बात कहने के लिए समय मांगा और तीखे स्वर में आलोचकों की आलोचना की. **रमेश उपाध्याय** ने भी कहा कि ऐसी नकारात्मक और नासमझी के साथ की गयी आलोचना लेखकों और पाठकों की कोई मदद नहीं करती. अंत में अध्यक्ष मंडल के तीन सदस्यों—क्रमशः **दूधनाथ सिंह, भैरवप्रसाद गुप्त** और **शिवकुमार मिश्र** ने आलोचकों और रचनाकारों के बीच के विवाद पर संतुलित टिप्पणियां करते हुए कहानियों पर राय प्रकट की. दूधनाथ सिंह ने 'लाइ लो' कहानी का विस्तार से विश्लेषण किया और नीलकांत का नाम लिये बिना उनकी सभी बातों का खंडन किया. शिवकुमार मिश्र ने प्रकृतवाद और यथार्थवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए पढ़ी गयी कहानियों को यथार्थवादी माना और इस बात को गलत बताया कि प्रेमचंद के बाद हिंदी कहानी ने कोई विकास नहीं किया है.

दूसरे सत्र में **भैरवप्रसाद गुप्त** ने 'मुंह अंधेरे'; **पंकज बिष्ट** ने 'बच्चे गवाह नहीं होते', **चित्रा मुद्गल** ने 'मामला आगे बढ़ेगा अभी', **रमेश बत्तरा** ने 'दिल का मामला', **इफ्तखार आलम खान** ने 'नजिश,' **असगर वजाहत** ने 'एक और मैदान,' **धीरेंद्र अस्थाना** ने 'विचित्र देश की प्रेमकथा' और **सुदर्शन नारंग** ने 'कमाई' नामक कहानियों का पाठ किया. **इसराइल** ने अपने उपन्यास 'रोशन' का एक अंश पढ़कर सुनाया. इसके बाद **कुंवरपाल सिंह, महेश दर्पण** और **नंद भारद्वाज** ने पढ़ी गयी कहानियों पर समीक्षात्मक टिप्पणियां कीं. इस सत्र का संचालन **चंचल चौहान** ने किया. अध्यक्ष थे **काजी अब्दुल सत्तार, राजेंद्र यादव** और **इसराइल**.

इस सत्र की विशेषता यह थी कि चर्चा करनेवालों के सामने केवल इस सत्र की कहानियां नहीं, बल्कि सुबह से शाम तक पढ़ी गयी तमाम कहानियां थीं और पहले सत्र की विचारोत्तेजक बहस का संदर्भ भी था. अतः चर्चा में तुलनात्मक समीक्षा और मूल्यांकन का भाव आ जाना स्वाभाविक ही था. **कुंवरपाल सिंह** ने समारोह की सफलता पर संतोष व्यक्त करते हुए दोनों सत्रों में पढ़ी गयी कहानियों की चर्चा की और कहा कि जो लोग कथा साहित्य में ठहराव की बात करते हैं, उनके लिए ये कहानियां एक सुखद संदेश हैं. **महेश दर्पण** ने कुछ कहानियों से सपाटबयानी की शिकायत करते हुए कई कहानियों में कथ्य, शिल्प और भाषा की ताजगी की प्रशंसा की. उन्होंने **चित्रा मुद्गल** की लंबी कहानी की तुलना **धीरेंद्र अस्थाना** की लंबी कहानी से करते हुए सिद्ध किया कि **चित्रा मुद्गल** की कहानी लंबी होते हुए भी ऊब पैदा नहीं करती, क्योंकि उसमें कथ्य और भाषा की ताजगी है. **नंद भारद्वाज** ने कहा कि ये कहानियां सामाजिक यथार्थ के विभिन्न रूपों को सामने लाती हैं, लेकिन यह बात खटकती है कि ज्यादातर कहानियों में अकेले-अकेले संघर्षरत पात्रों का चित्रण किया गया है, लोगों का सामूहिक संघर्ष इनमें दिखायी नहीं देता.

अंत में अध्यक्ष मंडल में से **काजी अब्दुस्सत्तार** और **राजेंद्र यादव** बोले. काजी साहब ने कथा समारोह की सफलता पर संयोजकों को बधाई देते हुए कहा कि उर्दू और हिंदी में कहानी पढ़कर सुनाने की एक लंबी परंपरा रही है और ऐसे आयोजनों से उसे आगे बढ़ाया जाना चाहिए. लेकिन उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि कहानी जिस तरह आगे बढ़ रही है, कहानी की आलोचना नहीं.

राजेंद्र यादव ने भी अपने वक्तव्य में दोनों सत्रों की कहानियों पर विचार किया और **भैरव प्रसाद गुप्त** की कहानी 'मुंह अंधेरे', **चित्रा मुद्गल** की कहानी 'मामला आगे बढ़ेगा अभी' और **अशोक सक्सेना** की कहानी 'ओवर एज' की उन्होंने प्रशंसा की. उन्होंने कहा कि कहानी के लिए कोई भी अनुभव त्याज्य नहीं होता और उन्होंने इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की कि पढ़ी गयी कहानियों में पर्याप्त विविधता रही. लेकिन उन्होंने इस बात की शिकायत की कि चित्रा मुद्गल और **रमेश उपाध्याय** को छोड़कर बाकी प्रायः सभी कहानीकारों ने श्रोताओं का ध्यान नहीं रखा. उन्होंने कहा कि कहानी सुनाना भी एक कला है और यदि कहानीकार कहानी सुनाते हैं तो उन्हें इस कला का भी विकास करना चाहिए. □

रमेश उपाध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- बहुचर्चित पु
- पाठ्य सामग्रं
- शुद्ध और प्रा
- आवरण पर

हाल ही में

- वरुण के बेटे (उप
- काला जल (उपन्या
- वह अपना चेहरा (उ
- छाको की वापसी (उ
- टूटते बिखरते लोग
- बेघर (उपन्यास)
- दारुलशफा (उपन्यास)
- प्रतिनिधि कहानियाँ
- प्रतिनिधि कहानियाँ
- प्रतिनिधि कविताएँ

राजकमल
पेपरबैक्स

उपन्यास

बाणभट्ट की आत्मकथा/हजारीप्रसाद द्विवेदी/रु. 1
अनामदास का पोथा/हजारीप्रसाद द्विवेदी/रु. 12.00
भगवान परशुराम/क.मा. मुंशी/रु. 17.00
रेखा/भगवतीचरण वर्मा/रु. 15.00
मैला आँचल/फणीश्वरनाथ रेणु/रु. 17.00
बाबा बटेसरनाथ/नागार्जुन/रु. 6.00
तमस/भीष्म सहनी/रु. 15.00
बसन्ती/भीष्म साहनी/रु. 10.00
राग दरबारी/श्रीलाल शुक्ल/रु. 18.00
सुहाग के नूपुर/अमृतलाल नागर/रु. 12.00
अँधेरे बन्द कमरे/मोहन राकेश/रु. 18.00
वे दिन/निर्मल वर्मा/रु. 11.00
एक चिथड़ा सुख/निर्मल वर्मा/रु. 10.00
मित्रो मरजानी/कृष्णा सोबती/रु. 6.00
डार से बिछुड़ी/कृष्णा सोबती/रु. 6.00
सूखा पत्ता/अमरकान्त/रु. 12.00
आकाश कितना अनन्त है/शैलेश मटियानी/रु. 15.00
शह और मात/राजेन्द्र यादव/रु. 13.00
कुरु-कुरु स्वाहा/मनोहरश्याम जोशी/रु. 13.00
आधा गाँव/राही मासूम रजा/रु. 17.00
लोग/गिरिराज किशोर/रु. 11.00
नंगा शहर/भीमसेन त्यागी/रु. 6.00
अपना मोर्चा/काशीनाथ सिंह/रु. 6.00
रुकोगी नहीं राधिका/उषा प्रियम्वदा/रु. 6.00
शेष यात्रा/उषा प्रियम्वदा/रु. 8.00
अध-चाँदनी रात/गुरदयाल सिंह/रु. 10.00
अठारह सूरज के पौधे/रमेश बक्षी/रु. 6.00
आधा पुल/जगदीशचन्द्र/रु. 12.00
एक चूहे की मौत/बदीउज्जमां/रु. 11.00
अनारो/मंजुल भगत/रु. 6.00
अजनबी/आल्बयर कामू/रु. 6.00
उस रात के बाद/ग्रेहम ग्रीन/रु. 12.00
हिरोशिमा के फूल/वियतनाम को प्यार/एदिता मोरिस/रु. 11.00
रोमियो जूलियट और अँधेरा/यान ओत्चेनाशेक/रु. 11.00
बीसवीं सदी का जिन्न/लाजार लागिन/रु. 6.00
और मौत मर गयी/उषा शेठ/रु. 8.00

नाटक

कबिरा खड़ा बाजार में/भीष्म साहनी/रु. 6.00
पगला घोड़ा/एवम् इन्द्रजित/बादल सरकार/रु. 10.00
बहू/अक्स पहेली/त्रिपुरारी शर्मा/रु. 10.00

शोधालोचना : आत्मकथा : संस्मरण

दूसरी परम्परा की खोज/नामवरसिंह/रु. 10.00
अपनी खबर/पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र/रु. 6.00
मीना बाजार/सआदत हसन मण्टो/रु. 6.00

देश के सभी प्रमुख
पुस्तक-विक्रेताओं से उपलब्ध

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
8 नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली - 110 002
शाखा : साइंस कालिज के सामने, पटना - 800006

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

वर्ग ....A.......... आगत संख्या NOV I, 85
सारिका

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

7/XI/81
6/XI/81
14/12/85

CC-0. In Public Domain

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- बहुचर्चित पुर
- पाठ्य सामग्रं
- शुद्ध और प्राम
- आवरण पर

हाल ही में प्रकाशित नयी पुस्तकें—

राजकमल पेपरबैक्स

वरुण के बेटे (उपन्यास)	: नागार्जुन	रु. 6.00
काला जल (उपन्यास)	: शानी	रु. 18.00
वह अपना चेहरा (उपन्यास)	: गोविन्द मिश्र	रु. 6.00
छाको की वापसी (उपन्यास)	: बदीउज्जमाँ	रु. 12.00
टूटते बिखरते लोग (उपन्यास)	: योगेशकुमार	रु. 12.00
बेघर (उपन्यास)	: ममता कालिया	रु. 11.00
दारुलशफ़ा (उपन्यास)	: राजकृष्ण मिश्र	रु. 18.00
प्रतिनिधि कहानियाँ	: राजेन्द्र यादव	रु. 10.00
प्रतिनिधि कहानियाँ	: स्वदेश दीपक	रु. 10.00
प्रतिनिधि कविताएँ	: त्रिलोचन	रु. 10.00

हिन्दी समेत विभिन्न भारतीय एवं [illegible] भाषाओं की
में रचित और प्रकाशित एकाधिक
67 बहुचर्चित कृतियाँ

उपन्यास

बाणभट्ट की आत्मकथा/हजारीप्रसाद द्विवेदी/रु. 15.00
अनामदास का पोथा/हजारीप्रसाद द्विवेदी/रु. 12.00
भगवान परशुराम/क.मा. मुंशी/रु. 17.00
रेखा/भगवतीचरण वर्मा/रु. 15.00
मैला आँचल/फणीश्वरनाथ रेणु/रु. 17.00
बाबा बटेसरनाथ/नागार्जुन/रु. 6.00
तमस/भीष्म सहनी/रु. 15.00
बसन्ती/भीष्म साहनी/रु. 10.00
राग दरबारी/श्रीलाल शुक्ल/रु. 18.00
सुहाग के नूपुर/अमृतलाल नागर/रु. 12.00
अँधेरे बन्द कमरे/मोहन राकेश/रु. 18.00
वे दिन/निर्मल वर्मा/रु. 11.00
एक चिथड़ा सुख/निर्मल वर्मा/रु. 10.00
मित्रो मरजानी/कृष्णा सोबती/रु. 6.00
डार से बिछुड़ी/कृष्णा सोबती/रु. 6.00
सूखा पत्ता/अमरकान्त/रु. 12.00
आकाश कितना अनन्त है/शैलेश मटियानी/रु. 15.00
शह और मात/राजेन्द्र यादव/रु. 13.00
कुरु-कुरु स्वाहा/मनोहरश्याम जोशी/रु. 13.00
आधा गाँव/राही मासूम रजा/रु. 17.00
लोग/गिरिराज किशोर/रु. 11.00
नंगा शहर/भीमसेन त्यागी/रु. 6.00
अपना मोर्चा/काशीनाथ सिंह/रु. 6.00
रुकोगी नहीं राधिका/उषा प्रियम्वदा/रु. 6.00
शेष यात्रा/उषा प्रियम्वदा/रु. 8.00
अध-चाँदनी रात/गुरदयाल सिंह/रु. 10.00
अठारह सूरज के पौधे/रमेश बक्षी/रु. 6.00
आधा पुल/जगदीशचन्द्र/रु. 12.00
एक चूहे की मौत/बदीउज्जमा/रु. 11.00
अनारो/मंजुल भगत/रु. 6.00
अजनबी/आल्बेयर कामू/रु. 6.00
उस रात के बाद/ग्रेहम ग्रीन/रु. 12.00
हिरोशिमा के फूल/वियतनाम को प्यार/एदिता मोरिस/रु. 11.00
रोमियो जूलियट और अँधेरा/यान ओत्चेनाशेक/रु. 11.00
बीसवीं सदी का जिन्न/लाजार लागिन/रु. 6.00
और मौत मर गयी/उषा शेठ/रु. 8.00

कहानी : कविता

प्रतिनिधि कहानियाँ/भगवतीचरण वर्मा/रु. 10.00
प्रतिनिधि कहानियाँ/फणीश्वरनाथ रेणु/रु. 10.00
प्रतिनिधि कहानियाँ/मोहन राकेश/रु. 10.00
प्रतिनिधि कहानियाँ/अमरकान्त/रु. 10.00
प्रतिनिधि कहानियाँ/ज्ञानरंजन/रु. 10.00
प्रतिनिधि कहानियाँ/मन्नू भण्डारी/रु. 10.00
प्रतिनिधि कहानियाँ/काशीनाथसिंह/रु. 10.00
प्रतिनिधि कविताएँ/मुक्तिबोध/रु. 10.00
प्रतिनिधि कविताएँ/फ़ैज़ अहमद फ़ैज़/रु. 10.00
प्रतिनिधि कविताएँ/नागार्जुन/रु. 10.00
प्रतिनिधि कविताएँ/अमृता प्रीतम/रु. 10.00
प्रतिनिधि कविताएँ/सर्वेश्वरदयाल सक्सेना/रु. 10.00
प्रतिनिधि कविताएँ/केदारनाथ सिंह/रु. 10.00

व्यंग्य

प्रतिनिधि व्यंग्य/हरिशंकर परसाई/रु. 10.00
सुना अनसुना/विनोद भट्ट/रु. 6.00

नाटक

कबिरा खड़ा बाजार में/भीष्म साहनी/रु. 6.00
पगला घोड़ा/एवम् इन्द्रजित/बादल सरकार/रु. 10.00
बहू/अक्स पहेली/त्रिपुरारी शर्मा/रु. 10.00

शोधालोचना : आत्मकथा : संस्मरण

दूसरी परम्परा की खोज/नामवरसिंह/रु. 10.00
अपनी खबर/पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र/रु. 6.00
मीना बाजार/सआदत हसन मण्टो/रु. 6.00

देश के सभी प्रमुख पुस्तक-विक्रेताओं से उपलब्ध

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
8 नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली - 110 002
शाखा : साइंस कालिज के सामने, पटना - 800006

CC-0. In Public Domain. Gurukul K

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगला अंक

पश्चिमी सभ्यता के बीमार मुहावरों और आजादी के शहसवारों का वर्तमान भारत आज दरअसल, किस दौर से गुजर रहा है?

—हिंदी कहानी के बाहय विघटन और आंतरिक टूटन के दौर में आजादी के संत्रास और पश्चिम की बनावट को चित्रित करने वाले चितेरों की वे तेज-तर्रार कहानियां जो उन्होंने हाल ही में 'सारिका' के लिए विशेष रूप से लिखी हैं, और इन्हें प्रस्तुत कर रही है सारिका : रजत जयंती विशेषांक की 22 वीं भेंट—

कथा-पीढ़ी विशेषांक: तीन

इस विशेषांक के संभावित कथाकार हैं:—
काशीनाथ सिंह, नरेंद्र कोहली, माहेश्वर, रमेश उपध्याय, नीलकांत, गिरिराज किशोर, से.रा. यात्री, शशिप्रभा शास्त्री, राबिन शॉ पुष्प, रमेश चंद्र शाह, कामतानाथ, रमाकांत, सुरेंद्र अरोड़ा, हेतु भारद्वाज आदि.

- हिंदी कहानी की तीसरी पीढ़ी
  —डा. कृष्ण दत्त पालीवाल का विचारोत्तेजक आलेख
- आपकी बात, अपनी बात, पखवारे की पुस्तकें, लघुकथा आदि स्थायी स्तंभों सहित—

सारिका 16 नवंबर, 1985

हर वर्ग और उम्र के पाठक के लिए पठनीय एवं संग्रहणीय दस्तावेज

पाठकों की बचत एवं सुविधा के लिए

हमें अक्सर पाठकों से शिकायती-पत्र मिलते हैं कि उन्हें 'सारिका' अपने बुक स्टॉल पर मिल नहीं पाती, उनके पहुंचने से पहले ही सारी प्रतियां बिक जाती हैं. पाठकों की सुविधा के लिए हम उन्हें सलाह देंगे कि वे अपना शुल्क आज ही ड्राफ्ट/मनीआर्डर के रूप में नीचे दिये गये कूपन के साथ हमें भिजवा दें ताकि उन्हें 'सारिका' डाक से नियमित भिजवायी जा सके.

शुल्क की रियायती दरें :
वार्षिक : 115 रुपये
अर्धवार्षिक : 60 रुपये

कृपया मुझे/हमें निम्न पते पर एक वर्ष/छह माह के लिए 'सारिका' भेजने की व्यवस्था करें. समुचित राशि संलग्न है.

नाम..................
पता..................
....
....
हस्ताक्षर..................

शुल्क तथा कूपन कृपया इस पते पर भेजें :
प्रसार अधिकारी,
सारिका, टाइम्स ऑफ इंडिया,
7, बहादुर शाह जफर मार्ग,
नयी दिल्ली-110002.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar